नव-निधि

(नौ भावपूर्ण कहानियों का संग्रह)

लेखक
प्रेमचन्द

सरस्वती प्रेस बनारस

फरवरी, १९४५

युद्ध-जनित अतिरिक्त व्यय-सहित

मूल्य १॥)

मुद्रक—श्रीपतराय, सरस्वती प्रेस, बनारस।

नव-निधि

राजा हरदौल

बुन्देलखण्ड में ओरछा पुराना राज्य है। इसके राजा बुन्देले हैं। इन बुन्देलों ने पहाड़ों की घाटियों में अपना जीवन बिताया है। एक समय ओरछे के राजा जुझारसिंह थे। ये बड़े साहसी और बुद्धिमान् थे। शाहजहाँ उस समय दिल्ली के बादशाह थे। जब शाँजहाँ लोदी ने बलवा किया और वह शाही मुल्क को लूटता-पाटता ओरछे की ओर आ निकला, तब राजा जुझारसिंह ने उससे मोरचा लिया। राजा के इस काम से गुणग्राही शाहजहाँ बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने तुरन्त ही राजा को दक्खिन का शासन-भार सौंपा। उस दिन ओरछे में बड़ा आनन्द मनाया गया। शाही दूत ख़िलअत और सनद लेकर राजा के पास आया। जुझारसिंह को बड़े बड़े काम करने का अवसर मिला। सफर की तैयारियाँ होने लगीं, तब राजा ने अपने छोटे भाई हरदौलसिंह को बुलाकर कहा, "भैया, मैं तो जाता हूँ। अब यह राज-पाट तुम्हारे सुपुर्द है। तुम भी इसे जी से प्यार करना। न्याय ही राजा का सबसे बड़ा सहायक है। न्याय की गढ़ी में कोई शत्रु नहीं घुस सकता, चाहे वह रावण की सेना या इन्द्र का बल लेकर आवे। पर न्याय वही सच्चा है, जिसे प्रजा भी न्याय समझे। तुम्हारा काम केवल न्याय ही करना न होगा, बल्कि प्रजा को अपने न्याय का विश्वास भी दिलाना होगा। और मैं तुम्हें क्या समझाऊँ, तुम स्वयं समझदार हो।"

यह कहकर उन्होंने अपनी पगड़ी उतारी और हरदौलसिंह के सिर पर रख दी। हरदौल रोता हुआ उनके पैरों से लिपट गया। इसके बाद राजा

अपनी रानी से विदा होने के लिए रनवास आये। रानी दरवाजे पर खड़ी रो रही थी। उन्हें देखते ही पैरों पर गिर पड़ी। जुझारसिंह ने उठाकर उसे छाती से लगाया और कहा, "प्यारी यह रोने का समय नहीं है। बुन्देलों की स्त्रियाँ ऐसे अवसरों पर रोया नहीं करतीं। ईश्वर ने चाहा, तो हम तुम जल्द मिलेंगे। मुझपर ऐसी ही प्रीति रखना। मैंने राजपाट हरदौल को सौंपा है; वह अभी लड़का है। उसने अभी दुनिया नहीं देखी है। अपनी सलाहों से उसकी मदद करती रहना।"

रानी की ज़बान बन्द हो गई। वह अपने मन में कहने लगी, "हाय, यह कहते हैं, बुन्देलों की स्त्रियाँ ऐसे अवसरों पर रोया नहीं करतीं! शायद उनके हृदय नहीं होता, या अगर होता है तो उसमें प्रेम नहीं होता!" रानी कलेजे पर पत्थर रखकर आँसू पी गई और हाथ जोड़कर राजा की ओर मुसकुराती हुई देखने लगी। पर क्या वह मुसकुराहट थी? जिस तरह अँधेरे मैदान में मशाल की रोशनी अँधेरे को और भी अथाह कर देती है; उसी तरह रानी की मुसकुराहट उसके मन के अथाह दुःख को और भी प्रकट कर रही थी।

जुझारसिंह के चले जाने के बाद हरदौलसिंह राज करने लगा। थोड़े ही दिनों में उसके न्याय और प्रजा-वात्सल्य ने प्रजा का मन हर लिया। लोग जुझारसिंह को भूल गये। जुझारसिंह के शत्रु भी थे और मित्र भी। पर हरदौलसिंह का कोई शत्रु न था, सब मित्र ही थे। वह ऐसा हँसमुख और मधुरभाषी था कि उससे जो बातें कर लेता, वही जीवन-भर उसका भक्त बना रहता। राज-भर में ऐसा कोई न था जो उसके पास तक न पहुँच सकता हो। रात-दिन उसके दरबार का फाटक सबके लिए खुला रहता था। ओरछे को कभी ऐसा सर्वप्रिय राजा नसीब न हुआ था। वह उदार था, न्यायी था, विद्या और गुण का ग्राहक था। पर सबसे बड़ा गुण जो उसमें था वह उसकी वीरता थी। उसका वह गुण हद दर्जे को पहुँच गया था। जिस जाति के जीवन का अवलम्ब तलवार पर है, वह अपने राजा के किसी गुण पर इतना नहीं रीझती जितना उसकी वीरता पर। हरदौल अपने गुणों से अपनी प्रजा के

मन का भी राजा हो गया, जो मुल्क और माल पर राज करने से भी कठिन है। इस प्रकार एक वर्ष बीत गया। उधर दक्खिन में जुझारसिंह ने अपने प्रबन्ध से चारों ओर शाही दबदबा जमा दिया, इधर ओरछे में हरदौल ने प्रजा पर मोहन-मन्त्र फूँक दिया।

२

फाल्गुन का महीना था, अबीर और गुलाल से जमीन लाल हो रही थी। कामदेव का प्रभाव लोगों को भड़का रहा था। रबी ने खेतों में सुनहला फ़र्श बिछा रखा था और खलिहानों में सुनहले महल उठा दिये थे। सन्तोष इस सुनहले फ़र्श पर इठलाता फिरता था और निश्चिन्तता इस सुनहले महल में तानें अलाप रही थी। इन्हीं दिनों दिल्ली का नामवर फ़ेकैत क़ादिर खाँ ओरछे आया। बड़े-बड़े पहलवान उसका लोहा मान गये थे। दिल्ली से ओरछे तक सैकड़ों मर्दानगी के मद से मतवाले उसके सामने आये, पर कोई उससे जीत न सका। उससे लड़ना भाग्य से नहीं, बल्कि मौत से लड़ना था। वह किसी इनाम का भूखा न था; जैसा ही दिल का दिलेर था, वैसा ही मन का राजा था। ठीक होली के दिन उसने धूमधाम से ओरछे में सूचना दी कि "खुदा का शेर दिल्ली का क़ादिरखाँ ओरछे आ पहुँचा है। जिसे अपनी जान भारी हो, आकर अपने भाग्य का निपटारा कर ले।" ओरछे के बड़े बड़े बुन्देले सूरमा यह घमण्ड-भरी वाणी सुनकर गरम हो उठे। फाग और डफ की तान के बदले ढोल की वीर-ध्वनि सुनाई देने लगी। हरदौल का अखाड़ा ओरछे के पहलवानों और फ़ेकैतों का सबसे बड़ा अड्डा था। सन्ध्या को यहाँ सारे शहर के सूरमा जमा हुए। कालदेव और भालदेव बुन्देलों की नाक थे, सैकड़ों मैदान मारे हुए। यही दोनों पहलवान क़ादिरखाँ का घमण्ड चूर करने के लिए गये।

दूसरे दिन किले के सामने तालाब के किनारे बड़े मैदान में ओरछे के छोटे-बड़े सभी जमा हुए। कैसे-कैसे सजीले अलबेले जवान थे,—सिर पर खुशरंग बाँकी पगड़ी, माथे पर चन्दन का तिलक, आँखों में मर्दानगी का

सरूर, कमरों में तलवार। और कैसे कैसे बूढ़े थे,—तनी हुई मूँछें, सादी पर तिरछी पगड़ी, कानों में बँधी हुई दाढ़ियाँ, देखने में तो बूढ़े पर काम में जवान किसी को कुछ न समझनेवाले। उनकी मर्दाना चाल-ढाल नौजवानों को लजाती थी। हरएक के मुँह से वीरता की बातें निकल रही थीं। नौजवान कहते थे—देखें, आज ओरछे की लाज रहती है या नहीं। पर बूढ़े कहते—ओरछे की हार कभी नहीं हुई और न होगी। वीरों का यह जोश देखकर राजा हरदौल ने बड़े जोर से कह दिया, "ख़बरदार, बुन्देलों की लाज रहे या न रहे, पर उनकी प्रतिष्ठा में बल न पड़ने पावे। यदि किसी ने औरों को यह कहने का अवसर दिया कि ओरछेवाले तलवार से न जीत सके तो धाँधली कर बैठे, वह अपने को जाति का शत्रु समझे।"

सूर्य निकल आया था। एकाएक नगाड़े पर चोब पड़ी और आशा तथा भय ने लोगों के मन को उछालकर मुँह तक पहुँचा दिया। कालदेव और क़ादिरख़ाँ दोनों लँगोटा कसे शेरों की तरह अखाड़े में उतरे और गले मिल गये। तब दोनो तरफ़ से तलवारें निकलीं और दोनों के बगलों में चली गईं। फिर बादल के दो टुकड़ों से बिजलियाँ निकलने लगीं। पूरे तीन घण्टे तक यही मालूम होता रहा कि दो अँगारे हैं। हज़ारों आदमी खड़े तमाशा देख रहे थे और मैदान में आधी रात का-सा सन्नाटा छाया था। हाँ, जब कभी कालदेव कोई गिरहदार हाथ चलाता या कोई पेचदार वार बचा जाता, तो लोगों की गर्दन आप ही आप उठ जाती, पर किसी के मुँह से एक शब्द भी नहीं निकलता था। अखाड़े के अन्दर तलवारों की खींच-तान थी; पर देखने-वालों के लिए अखाड़े से बाहर मैदान में इसमें भी बढ़कर तमाशा था। बार बार जातीय प्रतिष्ठा के विचार से मन के भावों को रोकना और प्रसन्नता या दुःख का शब्द मुँह से बाहर न निकलने देना तलवारों के वार बचाने से अधिक कठिन काम था। एकाएक क़ादिरख़ाँ 'अल्लाहो-अकबर' चिल्लाया, मानों बादल गरज उठा और उसके गरजते ही कालदेव के सिर पर बिजली गिर पड़ी।

कालदेव के गिरते ही बुन्देलों को सब्र न रहा। हर एक चेहरे पर निर्बल क्रोध और कुचले हुए घमण्ड की तसवीर खिंच गई। हज़ारों आदमी जोश में आकर अखाड़े पर दौड़े, पर हरदौल ने कहा—ख़बरदार! अब कोई आगे न बढ़े। इस आवाज़ ने पैरों के साथ जंजीर का काम किया। दर्शकों को रोककर जब वे अखाड़े में गये और कालदेव को देखा, तो आँखों में आँसू भर आये। ज़ख़मी शेर ज़मीन पर पड़ा तड़प रहा था। उसके जीवन की तरह उसकी तलवार के दो टुकड़े हो गये थे।

आज का दिन बीता, रात आई। पर बुन्देलों की आँखों में नींद कहाँ। लोगों ने करवटें बदलकर रात काटी। जैसे दुःखित मनुष्य विकलता से सुबह की बाट जोहता है, उसी तरह बुन्देले रह-रहकर आकाश की तरफ़ देखते और उसकी धीमी चाल पर झुँझलाते थे। उनके जातीय घमण्ड पर गहरा घाव लगा था। दूसरे दिन ज्यों ही सूर्य निकला, तीन लाख बुन्देले तालाब के किनारे पहुँचे। जिस समय भालदेव शेर की तरह अखाड़े की तरफ़ चला, दिलों में धड़कन-सी होने लगी। कल जब कालदेव अखाड़े में उतरा था बुन्देलों के हौसले बढ़े हुए थे, पर आज वह बात न थी। हृदयों में आशा की जगह डर घुसा हुआ था। जब क़ादिर ख़ाँ कोई चुटीला वार करता तो लोगों के दिल उछलकर होठों तक आ जाते। सूर्य सिर पर चढ़ा आता था और लोगों के दिल बैठ जाते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भालदेव अपने भाई से फुर्तीला और तेज़ था। उसने कई बार क़ादिर ख़ाँ को नीचा दिखलाया, पर दिल्ली का निपुण पहलवान हर बार सँभल जाता था। पूरे तीन घण्टे तक दोनों बहादुरों में तलवारें चलती रहीं। एकाएक खट्टाके की आवाज़ हुई और भालदेव की तलवार के दो टुकड़े हो गये। राजा हरदौल अखाड़े के सामने खड़े थे। उन्होंने भालदेव की तरफ़ तेज़ी से अपनी तलवार फेंकी। भालदेव तलवार लेने के लिए झुका ही था कि क़ादिर ख़ाँ की तलवार उसकी गर्दन पर आ पड़ी। घाव गहरा न था, केवल एक 'चरका' था, पर उसने लड़ाई का फैसला कर दिया।

हताश बुन्देले अपने अपने घरों को लौटे। यद्यपि भालदेव अब भी लड़ने को तैयार था, पर हरदौल ने समझाकर कहा कि, "भाइयो, हमारी हार उसी समय हो गई, जब हमारी तलवार ने जवाब दे दिया। यदि हम क़ादिर खाँ की जगह होते तो निहत्थे आदमी पर वार न करते और जब तक हमारे शत्रु के हाथ में तलवार न आ जाती हम उस पर हाथ न उठाते ; पर क़ादिर खाँ में यह उदारता कहाँ! बलवान् शत्रु का सामना करने में उदारता को ताक पर रख देना पड़ता है। तो भी हमने दिखा दिया है कि तलवार की लड़ाई में हम उसके बराबर हैं और अब हमको यह दिखाना रहा है कि हमारी तलवार में भी वैसा ही जौहर है।" इसी तरह लोगों को तसल्ली देकर राजा हरदौल रनवास को गये।

कुलीना ने पूछा—लाला, आज दंगल का क्या रंग रहा?

हरदौल ने सिर झुकाकर जवाब दिया—आज भी वही कल का-सा हाल रहा।

कुलीना—क्या भालदेव मारा गया?

हरदौल—नहीं, जान से तो नहीं, पर हार हो गई।

कुलीना—तो अब क्या करना होगा?

हरदौल—मैं स्वयं इसी सोच में हूँ। आज तक ओरछे को कभी नीचा न देखना पड़ा था। हमारे पास धन न था; पर अपनी वीरता के सामने हम राज और धन को कोई चीज़ नहीं समझते थे। अब हम किस मुँह से अपनी वीरता का घमण्ड करेंगे?—ओरछे की और बुन्देलों की लाज अब जाती है।

कुलीना—क्या अब कोई आस नहीं है?

हरदौल—हमारे पहलवानों में वैसा कोई नहीं है जो उससे बाजी ले जाय। भालदेव की हार ने बुंदेलों की हिम्मत तोड़ दी है। आज सारे शहर में शोक छाया हुआ है। सैकड़ों घरों में आग नहीं जली। चिराग़ रोशन नहीं हुआ। हमारे देश और जाति की वह चीज़ जिससे हमारा मान था, अब अन्तिम साँस ले रही है। भालदेव हमारा उस्ताद था। उसके हार चुकने के

बाद मेरा मैदान में आना धृष्टता है, पर बुन्देलों की साख जाती है तो मेरा सिर भी उसके साथ जायगा। क़ादिर खाँ बेशक अपने हुनर में एक ही है, पर हमारा भालदेव कभी उससे कम नहीं। उसकी तलवार यदि भालदेव के हाथ में होती तो मैदान ज़रूर उसके हाथ रहता। ओरछे में केवल एक तलवार है जो क़ादिर खाँकी तलवार का मुँह मोड़ सकती है। वह भैय्या की तलवार है। अगर तुम ओरछे की नाक रखना चाहती हो, तो उसे मुझे दे दो। यह हमारी अन्तिम चेष्टा होगी। यदि इस बार भी हार हुई तो ओरछे का नाम सदैव के लिए डूब जायगा!

कुलीना सोचने लगी, तलवार इनको दूँ या न दूँ। राजा रोक गये हैं। उनकी आज्ञा थी कि किसी दूसरे की परछाहीं भी उस पर न पड़ने पावे। क्या ऐसी दशा में मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन करूँ, तो वे नाराज़ होंगे? कभी नहीं। जब वे सुनेंगे कि मैंने कैसे कठिन समय में तलवार निकाली है, तो उन्हें सच्ची प्रसन्नता होगी। बुन्देलों की आन किसको इतनी प्यारी है? उनसे ज़्यादा ओरछे की भलाई चाहनेवाला कौन होगा? इस समय उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना ही आज्ञा मानना है। यह सोचकर कुलीना ने तलवार हरदौल को दे दी।

सबेरा होते ही यह ख़बर फैल गई कि राजा हरदौल क़ादिरख़ाँ से लड़ने के लिए जा रहे हैं। इतना सुनते ही लोगों में सनसनी-सी फैल गई और चौंक उठे। पागलों की तरह लोग अखाड़े की ओर दौड़े। हरएक आदमी कहता था कि जब तक हम जीते हैं, महाराज को लड़ने नहीं देंगे। पर जब लोग अखाड़े के पास पहुँचे तो देखा कि अखाड़े में बिजलियाँ-सी चमक रही हैं। बुन्देलों के दिलों पर उस समय जैसी बीत रही थी, उसका अनुमान करना कठिन है। उस समय उस लम्बे-चौड़े मैदान में जहाँ तक निगाह जाती थी, आदमी ही आदमी नज़र आते थे। पर चारों तरफ़ सन्नाटा था। हर एक आँख अखाड़े की तरफ़ लगी हुई थी और हर एक का दिल हरदौल की मंगल-कामना के लिए ईश्वर का प्रार्थी था। क़ादिरख़ाँ का एक एक वार हज़ारों

दिलों के टुकड़े कर देता था और हरदौल की एक एक काट से मनों में आनन्द की लहरें उठती थीं। अखाड़े में दो पहलवानों का सामना था और अखाड़े के बाहर आशा और निराशा का। आख़िर घड़ियाल ने पहला पहर बजाया और हरदौल की तलवार बिजली बनकर कादिर के सिर पर गिरी। यह देखते ही बुन्देले मारे आनन्द के उन्मत्त हो गये। किसी को किसी की सुधि न रही। कोई किसी से गले मिलता, कोई उछलता और कोई छलांगें भरता था। हज़ारों आदमियों पर वीरता का नशा छा गया। तलवारें स्वयं म्यान से निकल पड़ीं, भाले चमकने लगे। जीत की ख़ुशी में सैकड़ों जानें भेंट हो गईं। पर जब हरदौल अखाड़े से बाहर आये और उन्होंने बुन्देलों की ओर तेज़ निगाहों से देखा तो आन की आन में लोग सँभल गये। तलवारें म्यान में जा छिपीं। खयाल आ गया। यह ख़ुशी क्यों, यह उमंग क्यों, और यह पागलपन किस लिए? बुन्देलों के लिए यह कोई नई बात नहीं हुई। इस विचार ने लोगों का दिल ठंडा कर दिया। हरदौल की इस वीरता से उसे हरएक बुन्देले के दिल में मान-प्रतिष्ठा की उस ऊँची जगह पर जा बिठाया जहाँ न्याय और उदारता भी उसे न पहुँचा सकती थी। वह पहले ही से सर्वप्रिय था; और जब वह अपनी जाति का वीरवर और बुन्देला दिलावरी का सिरमौर बन गया।

राजा जुझारसिंह ने भी दक्षिण में अपनी योग्यता का परिचय दिया। वे केवल लड़ाई में ही वीर न थे, बल्कि राज्य-शासन में भी अद्वितीय थे। उन्होंने अपने सुप्रबन्ध से दक्षिण प्रान्तों को बलवान् राज्य बना दिया और वर्ष-भर के बाद बादशाहत से आज्ञा लेकर वे ओरछे की तरफ़ चले। ओरछे की याद उन्हें सदैव बेचैन करती रही। आह ओरछा! वह दिन कब आवेगा कि फिर तेरे दर्शन होंगे! राजा मंजिलें मारते चले आते थे, न भूख थी, न प्यास, ओरछेवालों की मुहब्बत खींचे लिये आती थी। यहाँ तक कि ओरछे के जंगलों में आ पहुँचे। साथ के आदमी पीछे छूट गये। दोपहर का समय था। धूप तेज़ थी। वे घोड़े से उतरे और एक पेड़ की छाँह में

जा बैठे। भाग्यवश आज हरदौल भी जीत की ख़ुशी में शिकार खेलने निकले थे। सैकड़ों बुन्देला सरदार उनके साथ थे। सब अभिमान के नशे में चूर थे। उन्होंने राजा जुझारसिंह को अकेले बैठे देखा, पर वे अपने घमण्ड में इतने डूबे हुए थे कि इनके पास तक न आये। समझा कोई यात्री होगा। हरदौल की आँखों ने भी धोखा खाया। वे घोड़े पर सवार अकड़ते हुए जुझारसिंह के सामने आये और पूछना चाहते थे कि तुम कौन हो कि भाई से आंख मिल गई। पहचानते ही घोड़े से कूद पड़े और उनको प्रणाम किया। राजा ने भी उठकर हरदौल को छाती से लगा लिया। पर उस छाती में अब भाई की मुहब्बत न थी। मुहब्बत की जगह ईर्ष्या ने घेर ली थी, और वह केवल इसी लिए कि हरदौल दूर से नंगे पैर उनकी तरफ़ न दौड़ा, उसके सवारों ने दूर ही से उनकी अभ्यर्थना न की। सन्ध्या होते होते दोनों भाई ओरछे पहुँचे। राजा के लौटने का समाचार पाते ही नगर में प्रसन्नता की दुंदुभी बजने लगी। हर जगह आनन्दोत्सव होने लगा और तुरताफुरती सारा शहर जगमगा उठा।

आज रानी कुलीना ने अपने हाथों भोजन बनाया। नौ बजे होंगे। लौंडी ने आकर कहा—महाराज, भोजन तैयार है। दोनों भाई भोजन करने गये। सोने के थाल में राजा के लिए भोजन परोसा गया और चाँदी के थाल में हरदौल के लिए। कुलीना ने स्वयं भोजन बनाया था, स्वयं थाल परोसे थे, और स्वयं ही सामने लाई थी, पर दिनों का चक्र कहो, या भाग्य के दुर्दिन, उसने भूल से सोने का थाल हरदौल के आगे रख दिया और चाँदी का राजा के सामने। हरदौल ने कुछ ध्यान न दिया। वह वर्ष-भर से सोने के थाल में खाते खाते उसका आदी हो गया था, पर जुझारसिंह तलमला गये। ज़बान से कुछ न बोले, पर तीवर बदल गये और मुँह लाल हो गया। रानी की तरफ़ घूर-कर देखा और भोजन करने लगे। पर ग्रास विष मालूम होता था। दो-चार ग्रास खाकर उठ आये। रानी उसके तीवर देखकर डर गई। आज कैसे प्रेम से उसने भोजन बनाया था, कितनी प्रतीक्षा के बाद यह शुभ दिन आया

था, उसके उल्लास का कोई पारावार न था। पर राजा के तीवर देखकर उसके प्राण सूख गये। जब राजा उठ गये और उसने थाल को देखा तो कलेजा धक्‌से हो गया और पैरों तले से मिट्टी निकल गई। उसने सिर पीट लिया—ईश्वर! आज रात कुशलतापूर्वक कटे, मुझे शकुन अच्छे दिखाई नहीं देते।

राजा जुझारसिंह शीशमहल में लेटे। चतुर नाइन ने रानी का शृंगार किया और वह मुसकुराकर बोली—कल महाराज से इसका इनाम लूँगी। यह कहकर वह चली गई। परन्तु कुलीना वहाँ से न उठी। वह गहरे सोच में पड़ी हुई थी। उनके सामने कौन-सा मुँह लेकर जाऊँ? नाइन ने नाहक मेरा शृंगार कर दिया। मेरा शृंगार देखकर वे ख़ुश भी होंगे? मुझसे इस समय अपराध हुआ है, मैं अपराधिनी हूँ, मेरा उनके पास इस समय बनाव-शृंगार करके जाना उचित नहीं। नहीं, नहीं; आज मुझे उनके पास भिखारिनी के भेष में जाना चाहिए। मैं उनसे क्षमा माँगूँगी। इस समय मेरे लिए यही उचित है। यह सोचकर रानी बड़े शीशे के सामने खड़ी हो गई। वह अप्सरा-सी मालूम होती थी। सुन्दरता की कितनी ही तसवीरें उसने देखी थीं; पर उसे इस समय शीशे की तसवीर सबसे ज़्यादा ख़ूबसूरत मालूम होती थी।

सुन्दरता और आत्मरुचि का साथ है। हल्दी बिना रंग के नहीं रह सकती। थोड़ी देर के लिए कुलीना सुन्दरता के मद से फूल उठी। वह तनकर खड़ी हो गई। लोग कहते हैं कि सुन्दरता में जादू है और वह जादू जिसका कोई उतार नहीं। धर्म्म और कर्म्म, तन और मन सब सुंदरता पर न्योछावर हैं। मैं सुन्दर न सही, ऐसी कुरूपा भी नहीं।हूँ। क्या मेरी सुंदरता में इतनी भी शक्ति नहीं है कि महाराज से मेरा अपराध क्षमा करा सके? ये बाहु-लताएँ जिस समय उनके गले का हार होंगी, ये आँखें जिस समय प्रेम के मद से लाल होकर देखेंगी, तब क्या मेरे सौन्दर्य की शीतलता उनकी क्रोधाग्नि को ठंडा न कर देगी? पर थोड़ी देर में रानी को ज्ञान हुआ। आह! यह मैं क्या स्वप्न देख रही हूँ! मेरे मन में ऐसी बातें क्यों आती हैं! मैं अच्छी हूँ या बुरी हूँ, उनकी चेरी हूँ। मुझसे अपराध हुआ है, मुझे उनसे क्षमा माँगनी चाहिए।

वह शृंगार और बनाव इस समय उपयुक्त नहीं है। यह सोचकर रानी ने सब गहने उतार दिये। इतर में बसी हुई हरे रेशम की साड़ी अलग कर दी। मोतियों से भरी माँग खोल दी और वह खूब फूट फूटकर रोई। हाय! यह मिलाप की रात वियोग की रात से भी विशेष दुःखदायिनी है। भिखारिनी का भेष बनाकर रानी शीशमहल की ओर चली। पैर आगे बढ़ते थे, पर मन पीछे हटा जाता था। दरवाजे तक आई, पर भीतर पैर न रख सकी। दिल धड़कने लगा। ऐसा जान पड़ा मानों उसके पैर थर्रा रहे हैं। राजा जुझारसिंह बोले "कौन है?—कुलीना! भीतर क्यों नहीं आ जाती?"

कुलीना ने जी कड़ा करके कहा—महाराज, कैसे आऊँ? मैं अपनी जगह क्रोध को बैठा पाती हूँ।

राजा—यह क्यों नहीं कहती कि मन दोषी है, इसलिए आँखें नहीं मिलाने देता?

कुलीना—निस्सन्देह मुझसे अपराध हुआ है, पर एक अबला आपसे क्षमा का दान माँगती है।

राजा—इसका प्रायश्चित्त करना होगा।

कुलीना—क्यों कर?

राजा—हरदौल के खून से।

कुलीना सिर से पैर तक काँप गई। बोली—क्या इसलिए कि आज मेरी भूल से ज्योनार के थालों में उलट-फेर हो गया?

राजा—नहीं, इसलिए कि तुम्हारे प्रेम में हरदौल ने उलट-फेर कर दिया! जैसे आग की आँच से लोहा लाल हो जाता है, वैसे ही रानी का मुँह लाल हो गया। क्रोध की अग्नि सद्भावों को भस्म कर देती है, प्रेम और प्रतिष्ठा, दया और न्याय, सब जलके राख हो जाते हैं। एक मिनट तक रानी को ऐसा मालूम हुआ, मानों दिल और दिमाग़ दोनों खौल रहे हैं। पर उसने आत्मदमन की अन्तिम चेष्टा से अपने को सँभाला, केवल इतना बोली—हरदौल को मैं अपना लड़का और भाई समझती हूँ।

राजा उठ बैठे और कुछ नर्म स्वर से बोले— नहीं, हरदौल लड़का नहीं है, इका मैं हूँ जिसने तुम्हारे ऊपर विश्वास किया। कुलीना, मुझे तुमसे ऐसी ाशा न थी। मुझे तुम्हारे ऊपर घमंड था। मैं समझता था, चाँद-सूर्य टल कते हैं, पर तुम्हारा दिल नहीं टल सकता। पर आज मुझे मालूम हुआ कि ह मेरा लड़कपन था। बड़ों ने सच कहा है कि स्त्री का प्रेम पानी की धार है, स ओर ढाल पाता है, उधर ही बह जाता है। सोना ज़्यादा गर्म होकर घल जाता है।

कुलीना रोने लगी। क्रोध की आग पानी बनकर आँखों से निकल पड़ी। ब आवाज़ वश में हुई, तो बोली—मैं आपके इस सन्देह को कैसे दूर करूँ?

राजा—हरदौल के ख़ून से।

रानी—मेरे ख़ून से दाग न मिटेगा?

राजा—तुम्हारे ख़ून से और पक्का हो जायगा।

रानी—और कोई उपाय नहीं है?

राजा—नहीं।

रानी—यह आपका अन्तिम विचार है?

राजा—हाँ, यह मेरा अन्तिम विचार है। देखो, इस पान-दान में पान बीड़ा रखा है। तुम्हारे सतीत्व की परीक्षा यही है कि तुम हरदौल को े अपने हाथों खिला दो। मेरे मन का भ्रम उसी समय निकलेगा जब इस से हरदौल की लाश निकलेगी।

रानी ने घृणा की दृष्टि से पान के बीड़े को देखा और वह उलटे पैर टट आई।

रानी सोचने लगी—क्या हरदौल के प्राण लूँ? निर्दोष सच्चरित्र वीर दौल की जान से अपने सतीत्व की परीक्षा दूँ? उस हरदौल के ख़ून से पना हाथ काला करूँ जो मुझे बहन समझता है? यह पाप किसके सिर ड़ेगा? क्या एक निर्दोष का ख़ून रंग न लायेगा? आह! अभागी कुलीना! झे आज अपने सतीत्व की परीक्षा देने की आवश्यकता पड़ी है और वह

ऐसी कठिन ? नहीं, यह पाप मुझसे न होगा। यदि राजा मुझे कुलटा समझ
हैं तो समझें, उन्हें मुझ पर सन्देह है तो हो। मुझसे यह पाप न होगा
राजा को ऐसा सन्देह क्यों हुआ ? क्या केवल थालों के बदल जाने से
नहीं, अवश्य कोई और बात है। आज हरदौल उन्हें जंगल में मिल गय
था। राजा ने उसकी कमर में तलवार देखी होगी। क्या आश्चर्य है, हरदौ
से कोई अपमान भी हो गया हो। मेरा अपराध क्या है ? मुझपर इतना ब
दोष क्यों लगाया जाता है ? केवल थालों के बदल जाने से ? हे ईश्वर !
किससे अपना दुःख कहूँ ? तू ही मेरा साक्षी है। जो चाहे सो हो, पर मुझ
यह पाप न होगा।

रानी ने फिर सोचा—राजा, क्या तुम्हारा हृदय ऐसा ओछा और नी
है ? तुम मुझसे हरदौल की जान लेने को कहते हो ? यदि तुमसे उस
अधिकार और मान नहीं देखा जाता, तो क्यों साफ़ साफ़ ऐसा नहीं कहते
क्यों मरदों की लड़ाई नहीं लड़ते ? क्यों स्वयं अपने हाथ से उसका सिर न
काटते और मुझसे वह काम करने को कहते हो ? तुम खूब जानते हो, मैं न
कर सकती। यदि मुझसे तुम्हारा जी उकता गया है, यदि मैं तुम्हारी जान
जंजाल हो गई हूँ, तो मुझे काशी या मथुरा भेज दो। मैं बेखटके च
जाऊँगी। पर ईश्वर के लिए मेरे सिर इतना बड़ा कलंक न लगने दो। पर
जीवित ही क्यों रहूँ ? मेरे लिए अब जीवन में कोई सुख नहीं है। अब मे
मरना ही अच्छा है। मैं स्वयं प्राण दे दूँगी, पर यह महापाप मुझसे
होगा। विचारों ने फिर पलटा खाया। तुमको पाप करना ही होगा। इत
बड़ा पाप शायद आज तक संसार में न हुआ हो; पर यह पाप तुमको कर
होगा। तुम्हारे पतिव्रत पर सन्देह किया जा रहा है और तुम्हें इस सन्देह
मिटाना होगा। यदि तुम्हारी जान जोखिम में होती, तो कुछ हर्ज न थ
अपनी जान देकर हरदौल को बचा लेती। पर इस समय तुम्हारे पतिव्रत
आँच आ रही है। इसलिए तुम्हें यह पाप करना ही होगा और पाप करने
बाद हँसता और प्रसन्न रहना होगा। यदि तुम्हारा चित्त तनिक भी विचलि

हुआ, यदि तुम्हारा मुखड़ा जरा भी मद्धम हुआ, तो इतना बड़ा पाप करने पर भी तुम सन्देह मिटाने में सफल न होगी। तुम्हारे जी पर चाहे जो बीते, पर तुम्हें यह पाप करना ही पड़ेगा। परन्तु कैसे होगा ? क्या मैं हरदौल का सिर उतारूँगी ? यह सोचकर रानी के शरीर में कँपकँपी आ गई। नहीं, मेरा हाथ उस पर कभी नहीं उठ सकता। प्यारे हरदौल, मैं तुम्हें विष नहीं खिला सकती। मैं मानती हूँ, तुम मेरे लिए आनन्द से विष का बीड़ा खा लोगे। हाँ, मैं जानती हूँ, तुम 'नहीं' न करोगे। पर मुझसे यह महापाप नहीं हो सकता; एक बार नहीं, हज़ार बार नहीं हो सकता।

४

हरदौल को इन बातों की कुछ भी ख़बर न थी। आधी रात को एक दासी रोती हुई उसके पास गई और उसने उससे सब समाचार अक्षर अक्षर कह सुनाया। वह दासी पान-दान लेकर रानी के पीछे पीछे राजमहल से दरवाज़े तक गई थी और सब बातें सुनकर आई थी। हरदौल राजा का ढंग देखकर पहले ही ताड़ गया था कि राजा के मन में कोई न कोई काँटा अवश्य खटक रहा है। दासी की बातों ने उसके सन्देह को और भी पक्का कर दिया। उसने दासी से कड़ी मनाही कर दी कि सावधान! किसी दूसरे के कानों में इन बातों की भनक न पड़े और वह स्वयं मरने को तैयार हो गया।

हरदौल बुन्देलों की वीरता का सूरज था। उसके भौंहों के तनिक इशारे से तीन लाख बुन्देले मरने और मारने के लिए इकट्ठे हो सकते थे। ओरछा उस पर न्योछावर था। यदि जुझारसिंह खुले मैदान उसका सामना करते, तो अवश्य मुँह की खाते। क्योंकि हरदौल भी बुन्देला था और बुन्देले अपने शत्रु के साथ किसी प्रकार की मुँहदेखी नहीं करते, मरना-मारना उनके जीवन का एक अच्छा दिल-बहलाव है। उन्हें सदा इसकी लालसा रहती है कि कोई हमें चुनौती दे, कोई हमें छेड़े। उन्हें सदा ख़ून की प्यास रहती है और वह प्यास कभी नहीं बुझती। परन्तु उस समय एक स्त्री को उसके ख़ून की ज़रूरत थी और उसका साहस उसके कानों में कहता था कि एक निर्दोष

और सती अबला के लिए अपने शरीर का ख़ून देने में मुँह न मोड़ो। यदि भैया को यह सन्देह होता कि मैं उनके ख़ून का प्यासा हूँ और उन्हें मारकर राज्य पर अधिकार करना चाहता हूँ, तो कुछ हर्ज़ न था। राज्य के लिए क़त्ल और ख़ून, दगा और फरेब सब उचित समझा गया है। परन्तु उनके इस सन्देह का निपटारा मेरे मरने के सिवा और किसी तरह नहीं हो सकता। इस समय मेरा धर्म है कि अपना प्राण देकर उनके इस सन्देह को दूर कर दूँ। उनके मन में यह दुखानेवाला सन्देह उत्पन्न करके भी यदि मैं जीता ही रहूँ और अपने मन की पवित्रता जनाऊँ तो मेरी ढिठाई है। नहीं, इस भले काम में अधिक आगा-पीछा करना अच्छा नहीं। मैं खुशी से विष का बीड़ा खाऊँगा। इससे बढ़कर शूरवीर की मृत्यु और क्या हो सकती है ?

क्रोध में आकर मारू के भय बढ़ानेवाले शब्द सुनकर रणक्षेत्र में अपनी जान को तुच्छ समझना इतना कठिन नहीं है। आज सच्चा वीर हरदौल अपने हृदय के बड़प्पन पर अपनी सारी वीरता और साहस न्योछावर करने को उद्यत है।

दूसरे दिन हरदौल ने ख़ूब तड़के स्नान किया। बदन पर अस्त्र-शस्त्र सज मुसकुराता हुआ राजा के पास गया। राजा भी सोकर तुरन्त ही उठे थे उनकी अलसाई हुई आँखें हरदौल की मूर्ति की ओर लगी हुई थीं। सामने संगमर्मर की चौकी पर विष-मिला पान सोने की तश्तरी में रखा हुआ था राजा कभी पान की ओर ताकते और कभी मूर्ति की ओर, शायद उनके विचार ने इस विष की गाँठ और उस मूर्ति में एक सम्बन्ध पैदा कर दिया था। उस समय जो हरदौल एकाएक घर में पहुँचे तो राजा चौंक पड़े। उन्होंने सँभलकर पूछा, "इस समय कहाँ चले ?"

हरदौल का मुखड़ा प्रफुल्लित था। वह हँसकर बोला, "कल आप यहाँ पधारे हैं, इसी खुशी में मैं आज शिकार खेलने जाता हूँ। आपको ईश्वर ने अजित बनाया है, मुझे अपने हाथ से विजय का बीड़ा दीजिए।"

यह कहकर हरदौल ने चौकी पर से पान-दान उठा लिया और उसे राजा

के सामने रखकर बीड़ा लेने के लिए हाथ बढ़ाया। हरदौल का खिला हुआ मुखड़ा देखकर राजा की ईर्षा की आग और भी भड़क उठी।—दुष्ट, मेरे घाव पर नमक छिड़कने आया है! मेरे मान और विश्वास को मिट्टी में मिलाने पर भी तेरा जी न भरा! मुझसे विजय का बीड़ा माँगता है! हाँ, यह विजय का बीड़ा है। पर तेरी विजय का नहीं, मेरी विजय का।

इतना मन में कहकर जुझारसिंह ने बीड़े को हाथ में उठाया। वे एक क्षण तक कुछ सोचते रहे, फिर मुसकुराकर हरदौल को बीड़ा दे दिया। हरदौल ने सिर झुकाकर बीड़ा लिया, उसे माथे पर चढ़ाया, एक बार बड़ी ही करुणा के साथ चारों ओर देखा और फिर बीड़े को मुँह में रख लिया। एक सच्चे राजपूत ने अपना पुरुषत्व दिखा दिया। विष हलाहल था, कण्ठ के नीचे उतरते ही हरदौल के मुखड़े पर मुर्दनी छा गई और आँखें बुझ गईं। उसने एक ठण्डी साँस ली, दोनों हाथ जोड़कर जुझारसिंह को प्रणाम किया और ज़मीन पर बैठ गया। उसके ललाट पर पसीने की ठण्डी ठण्डी बूँदें दिखाई दे रही थीं और साँस तेजी से चलने लगी थी; पर चेहरे पर प्रसन्नता और सन्तोष की झलक दिखाई देती थी।

जुझारसिंह अपनी जगह से जरा भी न हिले। उनके चेहरे पर ईर्षा से भरी हुई मुसकुराहट छाई हुई थी, पर आँखों में आँसू भर आये थे। उजेले और अँधेरे का मिलाप हो गया था।

रानी सारन्धा

१

अँधेरी रात के सन्नाटे में धसान नदी चट्टानों से टकराती हुई ऐसी सुहावनी मालूम होती थी जैसे घुमुर घुमुर करती हुई चक्कियाँ। नदी के दाहिने तट पर एक टीला है। उस पर एक पुराना दुर्ग बना हुआ है जिसको जंगली वृक्षों ने घेर रखा है। टीले के पूर्व की ओर छोटा-सा गाँव है। यह गढ़ी और गाँव दोनों एक बुँदेला सरदार के कीर्ति-चिन्ह हैं। शताब्दियाँ व्यतीत हो गईं, बुन्देलखण्ड में कितने ही राज्यों का उदय और अस्त हुआ, मुसलमान आये और गये, बुँदेला राजा उठे और गिरे,—कोई गाँव, कोई इलाका ऐसा न था जो इन दुर्व्यवस्थाओं से पीड़ित न हो, मगर इस दुर्ग पर किसी शत्रु की विजय-पताका न लहराई और इस गाँव में किसी विद्रोह का भी पदार्पण न हुआ। यह उसका सौभाग्य था।

अनिरुद्धसिंह वीर राजपूत था। वह जमाना ही ऐसा था जब मनुष्यमात्र को अपने बाहु-बल और पराक्रम ही का भरोसा था। एक ओर मुसलमान सेनाएँ पैर जमाये खड़ी रहती थीं, दूसरी ओर बलवान राजा अपने निर्बल भाइयों का गला घोंटने पर तत्पर रहते थे। अनिरुद्धसिंह के पास सवारों और पियादों का एक छोटा-सा मगर सजीव दल था। इससे वह अपने कुल और मर्य्यादा की रक्षा किया करता था। उसे कभी चैन से बैठना नसीब न होता था। तीन वर्ष पहले उसका विवाह शीतलादेवी से हुआ था, मगर अनिरुद्ध विहार के दिन और विलास की रातें पहाड़ों में काटता था और शीतला उसकी जान की ख़ैर मनाने में। वह कितनी बार पति से अनुरोध कर चुकी थी, कितनी बार उसके पैरों पर गिरकर रोई थी कि तुम मेरी आँखों से दूर न हो, मुझे हरिद्वार ले चलो, मुझे तुम्हारे साथ वनवास अच्छा है, यह वियोग अब नहीं

सहा जाता। उसने प्यार से कहा, ज़िद से कहा, विनय की, मगर अनिरुद्ध बुँदेला था। शीतला अपने किसी हथियार से उसे परास्त न कर सकी।

अँधेरी रात थी। सारी दुनिया सोती थी, मगर तारे आकाश में जागते थे। शीतला देवी पलंग पर पड़ी करवटें बदल रही थी और उसकी ननद सारन्धा फ़र्श पर बैठी हुई मधुर स्वर से गाती थी—

बिन रघुबीर कटत नहिं रैन।

शीतला ने कहा—जी न जलाओ। क्या तुम्हें भी नींद नहीं आती?

सारन्धा—तुम्हें लोरी सुना रही हूँ।

शीतला—मेरी आँखों से तो नींद लोप हो गई।

सारन्धा—किसी को ढूँढ़ने गई होगी।

इतने में द्वार खुला और एक गठे हुए बदन के रूपवान् पुरुष ने भीतर प्रवेश किया। यह अनिरुद्ध था। उसके कपड़े भीगे हुए थे, और बदन पर कोई हथियार न था। शीतला चारपाई से उतरकर जमीन पर बैठ गई।

सारन्धा ने पूछा—भैया, यह कपड़े भीगे क्यों हैं?

अनिरुद्ध—नदी तैरकर आया हूँ।

सारन्धा—हथियार क्या हुए?

अनिरुद्ध—छिन गये।

सारन्धा—और साथ के आदमी?

अनिरुद्ध—सबने वीर-गति पाई।

शीतला ने दबी ज़बान से कहा, ईश्वर ने ही कुशल किया। मगर सारन्धा के तीवरों पर बल पड़ गये और मुखमण्डल गर्व से सतेज हो गया। बोली—भैया, तुमने कुल की मर्यादा खो दी। ऐसा कभी न हुआ था।

सारन्धा भाई पर जान देती थी। उसके मुँह से यह धिक्कार सुनकर अनिरुद्ध लज्जा और खेद से विकल हो गया। वह वीराग्नि जिसे क्षण भर के लिए अनुराग ने दबा लिया था, फिर ज्वलन्त हो गई। वह उलटे पाँव लौटा

और यह कहकर बाहर चला गया कि "सारन्धा, तुमने मुझे सदैव के लिए सचेत कर दिया। यह बात मुझे कभी न भूलेगी।"

अँधेरी रात थी। आकाश-मण्डल में तारों का प्रकाश बहुत धुँधला था। अनिरुद्ध किले से बाहर निकला। पल-भर में नदी के उस पार जा पहुँचा और फिर अन्धकार में लुप्त हो गया। शीतला उसके पीछे पीछे किले की दीवारों तक आई, मगर जब अनिरुद्ध छलाँग मारकर बाहर कूद पड़ा तो वह विरहिणी एक चट्टान पर बैठकर रोने लगी।

इतने में सारन्धा भी वहीं आ पहुँची। सीतला ने नागिन की तरह बल खाकर कहा—मर्य्यादा इतनी प्यारी है ?

सारन्धा—हाँ।

शीतला—अपना पति होता तो हृदय में छिपा लेतीं।

सारन्धा—ना, छाती में छुरा चुभा देती।

शीतला ने ऐंठकर कहा—चोली में छिपाती फिरोगी, मेरी बात गिरह में बाँध लो।

सारन्धा—जिस दिन ऐसा होगा मैं भी अपना वचन पूरा कर दिखाऊँगी।

इस घटना के तीन महीने पीछे अनिरुद्ध महरौनी को जीत करके लौटा और साल-भर पीछे सारन्धा का विवाह ओरछा के राजा चम्पतराय से हो गया। मगर उस दिन की बातें दोनों महिलाओं के हृदयस्थल में काँटे की तरह खटकती रहीं।

२

राजा चम्पतराय बड़े प्रतिभाशाली पुरुष थे। सारी बुन्देला जाति उनके नाम पर जान देती थी और उनके प्रभुत्व को मानती थी। गद्दी पर बैठते ही उन्होंने मुग़ल बादशाहों को कर देना बन्द कर दिया और वे अपने बाहुबल से राज्य-विस्तार करने लगे। मुसलमानों की सेनाएँ बार बार उन पर हमले करती थीं, पर हारकर लौट जाती थीं।

यही समय था जब अनिरुद्ध ने सारन्धा का चम्पतराय से विवाह कर दिया।

सारन्धा ने मुँहमाँगी मुराद पाई। उसकी यह अभिलाषा कि मेरा पति बुँदेला जाति का कुल-तिलक हो, पूरी हुई। यद्यपि राजा के रनिवास में पाँच रानियाँ थीं, मगर उन्हें शीघ्र ही मालूम हो गया कि वह देवी जो हृदयमें मेरी पूजा करती है सारन्धा है।

परन्तु कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं कि चम्पतराय को मुग़ल बादशाह का आश्रित होना पड़ा। वे अपना राज्य अपने भाई पहाड़सिंह को सौंपकर देहली चले गये। यह शाहजहाँ के शासन-काल का अन्तिम भाग था। शाहज़ादा दारा शिकोह राजकीय कार्य्यों को सँभालते थे। युवराज की आँखों में शील था और चित्त में उदारता। उन्होंने चम्पतराय की वीरता की कथाएँ सुनी थीं, इसलिए उनका बहुत आदर-सम्मान किया, और कालपी की बहुमूल्य जागीर उनको भेंट की, जिसकी आमदनी नौ लाख थी। यह पहला अवसर था कि चम्पतराय को आये दिन के लड़ाई-झगड़े से निवृत्ति मिली और उसके साथ ही भोग-विलास का प्राबल्य हुआ। रात-दिन आमोद-प्रमोद की चर्चा रहने लगी। राजा विलास में डूबे, रानियाँ जड़ाऊ गहनों पर रीझीं। मगर सारन्धा इन दिनों बहुत उदास और संकुचित रहती। वह इन रहस्यों से दूर दूर रहती, ये नृत्य और गान की सभाएँ उसे सूनी प्रतीत होतीं।

एक दिन चम्पतराय ने सारन्धा से कहा—सारन, तुम उदास क्यों रहती हो? मैं तुम्हें कभी हँसते नहीं देखता। क्या मुझसे नाराज हो!

सारन्धा की आँखों में जल भर आया। बोली—स्वामीजी, आप क्यों ऐसा विचार करते हैं? जहाँ आप प्रसन्न हैं वहाँ मैं भी ख़ुश हूँ।

चम्पतराय—मैं जबसे यहाँ आया हूँ, मैंने तुम्हारे मुख-कमल पर कभी मनोहारिणी मुस्कराहट नहीं देखी। तुमने कभी अपने हाथों से मुझे बीड़ा नहीं खिलाया। कभी मेरी पाग नहीं सँवारी। कभी मेरे शरीर पर शस्त्र न सजाये। कहीं प्रेम-लता मुरझाने तो नहीं लगी?

सारन्धा—प्राणनाथ, आप मुझसे ऐसी बात पूछते हैं जिसका उत्तर मेरे

पास नहीं है। यथार्थ में इन दिनों मेरा चित्त कुछ उदास रहता है। मैं बहुत चाहती हूँ कि ख़ुश रहूँ, मगर बोझ-सा हृदय पर धरा रहता है।

चम्पतराय स्वयं आनन्द में मग्न थे। इसलिए उनके विचार में सारन्धा को असन्तुष्ट रहने का कोई उचित कारण नहीं हो सकता था। वे भौंहें सिकोड़कर बोले—मुझे तुम्हारे उदास रहने का कोई विशेष कारण नहीं मालूम होता। ओरछे में कौन-सा सुख था जो यहाँ नहीं है?

सारन्धा का चेहरा लाल हो गया। बोली—मैं कुछ कहूँ, आप नाराज़ तो न होंगे?

चम्पतराय—नहीं, शौक़ से कहो।

सारन्धा—ओरछे में मैं एक राजा की रानी थी। यहाँ मैं एक जागीरदारकी चेरी हूँ। ओरछे में मैं वह थी जो अवध में कौशल्या थीं; यहाँ मैं बादशाह के एक सेवक की स्त्री हूँ। जिस बादशाह के सामने आज आप आदर से सिर झुकाते हैं वह कल आप के नाम से काँपता था। रानी से चेरी होकर भी प्रसन्न-चित्त होना मेरे वश में नहीं है। आपने यह पद और ये विलास की सामग्रियाँ बड़े महँगे दामों मोल ली हैं।

चम्पतराय के नेत्रों पर से एक पर्दा-सा हट गया। वे अब तक सारन्धा की आत्मिक उच्चता को न जानते थे। जैसे बे-माँ-बाप का बालक माँ की चर्चा सुनकर रोने लगता है, उसी तरह ओरछे की याद से चम्पतराय की आँखें सजल हो गईं। उन्होंने आदरयुक्त अनुराग के साथ सारन्धा को हृदय से लगा लिया।

आज से उन्हें फिर उसी उजड़ी बस्ती की फ़िक्र हुई जहाँ से धन और कीर्ति की अभिलाषाएँ खींच लाई थीं।

४

मा अपने खोये हुए बालक को पाकर निहाल हो जाती है। चम्पतराय के आने से बुन्देलखण्ड निहाल हो गया। ओरछे के भाग जागे। नौबतें झड़ने

लगीं और फिर सारन्धा के कमल-नेत्रों में जातीय अभिमान का आभास दिखाई देने लगा।

यहाँ रहते रहते महीने बीत गये। इसी बीच में शाहजहाँ बीमार पड़ा। पहले से ईर्षा की अग्नि दहक रही थी। यह ख़बर सुनते ही ज्वाला प्रचण्ड हुई। संग्राम की तैयारियाँ होने लगीं। शाहज़ादा मुराद और मुहीउद्दीन अपने अपने दल सजाकर दक्खिन से चले। वर्षा के दिन थे। उर्वरा भूमि रंग-बिरंग के रूप भरकर अपने सौन्दर्य्य को दिखाती थी।

मुराद और मुहीउद्दीन उमंगों से भरे हुए कदम बढ़ाते चले आते थे। यहाँ तक कि वे धौलपुर के निकट चम्बल के तट पर आ पहुँचे; परन्तु यहाँ उन्होंने बादशाही सेना को अपने शुभागमन के निमित्त तैयार पाया।

शाहज़ादे अब बड़ी चिन्ता में पड़े। सामने अगम्य नदी लहरें मार रही थी, किसी योगी के त्याग के सदृश। विवश होकर चम्पतराय के पास संदेश भेजा कि ख़ुदा के लिए आकर हमारी डूबती हुई नाव को पार लगाइए।

राजा ने भवन में जाकर सारन्धा से पूछा—इसका क्या उत्तर दूँ?

सारन्धा—आपको मदद करनी होगी।

चम्पतराय—उनकी मदद करना दारा शिकोह से वैर लेना है।

सारन्धा—यह सत्य है; परन्तु हाथ फैलाने की मर्य्यादा भी तो निभानी चाहिए।

चम्पतराय—प्रिये, तुमने सोचकर जवाब नहीं दिया।

सारन्धा—प्राणनाथ, मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि यह मार्ग कठिन है। और अब हमें अपने योद्धाओं का रक्त पानी के समान बहाना पड़ेगा; परन्तु हम अपना रक्त बहायेंगे, और चम्बल की लहरों को लाल कर देंगे। विश्वास रखिए कि जब तक नदी की धारा बहती रहेगी, वह हमारे वीरों का कीर्ति-गान करती रहेगी। जब तक बुन्देलों का एक भी नामलेवा रहेगा, ये रक्त-बिन्दु उसके माथे पर केशर का तिलक बनकर चमकेंगे।

वायुमण्डल में मेघराज की सेनाएँ उमड़ रही थीं। ओरछे के किले से

बुंदेलों की एक काली घटा उठी और वेग के साथ चम्बल की तरफ़ चली। प्रत्येक सिपाही वीर-रस से झूम रहा था। सारन्धा ने दोनों राजकुमारों को गले से लगा लिया और राजा को पान का बीड़ा देकर कहा—बुन्देलों की लाज अब तुम्हारे हाथ है।

आज उसका एक एक अंग मुस्करा रहा है और हृदय हुलसित है। बुन्देलों की यह सेना देखकर शाहज़ादे फूले न समाये। राजा वहाँ की अंगुल अंगुल भूमि से परिचित थे। उन्होंने बुन्देलों को तो एक आड़ में छिपा दिया और वे शाहज़ादों की फ़ौज को सजाकर नदी के किनारे किनारे पच्छिम की ओर चले। दाराशिकाह को भ्रम हुआ कि शत्रु किसी अन्य घाट से नदी उतरना चाहता है। उन्होंने घाट पर से मोर्चे हटा लिये। घाट में बैठे हुए बुन्देले इसी ताक में थे। बाहर निकल पड़े और उन्होंने तुरत ही नदी में घोड़े डाल दिये। चम्पतराय ने शाहज़ादा दारा शिकोह को भुलावा देकर अपनी फ़ौज घुमा दी और वह बुन्देलों के पीछे चलता हुआ उसे पार उतार लाया। इस कठिन चाल में सात घण्टों का विलम्ब हुआ; परन्तु जाकर देखा तो सात सौ बुन्देलों की लाशें तड़प रही थीं।

राजा को देखते ही बुन्देलों की हिम्मत बँध गई। शाहज़ादों की सेना ने भी 'अल्लाहो अकबर' की ध्वनि के साथ धावा किया। बादशाही सेना में हलचल पड़ गई। उनकी पंक्तियाँ छिन्न-भिन्न हो गईं, हाथों हाथ लड़ाई होने लगी, यहाँ तक कि शाम हो गई। रणभूमि रुधिर से लाल हो गई और आकाश अँधेरा हो गया। घमसान की मार हो रही थी। बादशाही सेना शाहज़ादों को दबाये आती थी। अकस्मात् पच्छिम से फिर बुन्देलों की एक लहर उठी और इस वेग से बादशाही सेना की पुश्त पर टकराई कि उसके क़दम उखड़ गये। जीता हुआ मैदान हाथ से निकल गया। लोगों को कुतूहल था कि यह दैवी सहायता कहाँ से आई। सरल स्वभाव के लोगों की धारणा थी कि यह फ़तह के फ़रिश्ते हैं, शाहज़ादों की मदद के लिए आये हैं; परन्तु जब राजा चम्पतराय निकट गये तो सारन्धा ने घोड़े से उतरकर उनके पैरों

पर सिर झुका दिया। राजा को असीम आनन्द हुआ। यह सारन्धा थी।

समर-भूमि का दृश्य इस समय अत्यन्त दुःखमय था। थोड़ी देर पहले जहाँ सजे हुए वीरों के दल थे, वहाँ अब बेजान लाशें तड़प रही थीं। मनुष्य ने अपने स्वार्थ के लिए अनादि से ही भाइयों की हत्या की है।

अब विजयी सेना लूट पर टूटी। पहले मर्द मर्दों से लड़ते थे। वह वीरता और पराक्रम का चित्र था, यह नीचता और दुर्बलता की ग्लानिप्रद तसवीर थी। उस समय मनुष्य पशु बना हुआ था, अब वह पशु से भी बढ़ गया था।

इस नोच-खसोट में लोगों को बादशाही सेना के सेनापति वली बहादुर खाँ की लाश दिखाई दी। उसके निकट उसका घोड़ा खड़ा हुआ अपनी दुम से मक्खियाँ उड़ा रहा था। राजा को घोड़ों का शौक था। देखते ही वह उस पर मोहित हो गया। यह एरा की जाति का अति सुन्दर घोड़ा था। एक एक अंग साँचे में ढला हुआ, सिंह की-सी छाती; चीते की-सी कमर, उसका यह प्रेम और स्वामि-भक्ति देखकर लोगों को बड़ा कुतूहल हुआ। राजा ने हुक्म दिया—ख़बरदार! इस प्रेमी पर कोई हथियार न चलाये, इसे जीता पकड़ लो, यह मेरे अस्तबल की शोभा बढ़ायेगा। जो इसे मेरे पास लावेगा, उसे धन से निहाल कर दूँगा।

योद्धागण चारों ओर से लपके; परन्तु किसी को साहस न होता था कि उनके निकट जा सके। कोई चुमकारता था, कोई फन्दे में फँसाने की फ़िक्र में था। पर कोई उपाय सफल न होता था। वहाँ सिपाहियों का मेला-सा लगा हुआ था।

तब सारन्धा अपने खेमे से निकली और निर्भय होकर घोड़े के पास चली गई। उसकी आँखों में प्रेम का प्रकाश था, छल का नहीं। घोड़े ने सिर झुका दिया। रानी ने उसकी गर्दन पर हाथ रखा, और वह उसकी पीठ सुहलाने लगी। घोड़े ने उसके अञ्चल में मुँह छिपा लिया। रानी उसकी रास पकड़-

कर खेमे की ओर चली। घोड़ा इस तरह चुपचाप उसके पीछे चला, मानों सदैव से उस का सेवक है।

पर बहुत अच्छा होता कि घोड़े ने सारन्धा से भी निष्ठुरता की होती। यह सुन्दर घोड़ा आगे चलकर इस राज-परिवार के निमित्त स्वर्णजटित मृग साबित हुआ।

५

संसार एक रण-क्षेत्र है। इस मैदान में उसी सेनापति को विजय-लाभ होता है जो अवसर को पहचानता है। वह अवसर जितने उत्साह से आगे बढ़ता है, उतने ही उत्साह से आपत्ति के समय पीछे हट जाता है। वह वीर पुरुष राष्ट्र का निर्माता होता है और इतिहास उसके नाम पर यश के फूलों की वर्षा करता है।

पर इस मैदान में कभी कभी ऐसे सिपाही भी जाते हैं जो अवसर पर क़दम बढ़ाना जानते हैं, लेकिन संकट में पीछे हटना नहीं जानते। ये रणवीर पुरुष विजय को नीति की भेंट कर देते हैं। वे अपनी सेना का नाम मिटा देंगे, किन्तु जहाँ एक बार पहुँच गये हैं, वहाँ से कदम पीछे न हटायेंगे। उनमें कोई विरला ही संसार-क्षेत्र में विजय प्राप्त करता है, किन्तु प्रायः उसकी हार विजय से भी अधिक गौरवात्मक होती है। अगर अनुभवशील सेनापति राष्ट्रों की नींव डालता है, तो आन पर जान देनेवाला, मुँह न मोड़नेवाला सिपाही राष्ट्र के भावों को उच्च करता है, और उसके हृदय पर नैतिक गौरव को अंकित कर देता है। उसे इस कार्यक्षेत्र में चाहे सफलता न हो, किन्तु जब किसी वाक्य या सभा में उसका नाम ज़बान पर आ जाता है, तो श्रोतागण एक स्वर से उसके कीर्ति-गौरव को प्रतिध्वनित कर देते हैं। सारन्धा 'आन पर जान देनेवालों' में थी।

शाहज़ादा मुहीउद्दीन चम्बल के किनारे से आगरे की ओर चला तो सौभाग्य उसके सिर पर मोर्छल हिलाता था। जब वह आगरे पहुँचा तो विजयदेवी ने उस के लिए सिंहासन सजा दिया।

औरंगजेब गुणज्ञ था। उसने बादशाही सरदारों के अपराध क्षमा कर दिये, उनके राज्य-पद लौटा दिये और राजा चम्पतराय को उसके बहुमूल्य कृत्यों के उपलक्ष में बारह हज़ारी मन्सब प्रदान किया। ओरछा से बनारस और बनारस से जमुना तक उसकी जागीर नियत की गई। बुँदेला राजा फिर राज-सेवक बना, वह फिर सुख-विलास में डूबा और रानी सारन्धा फिर पराधीनता के शोक से घुलने लगी।

वली बहादुर खाँ बड़ा वाक्य-चतुर मनुष्य था। उसकी मृदुता ने शीघ्र ही उसे बादशाह आलमगीर का विश्वासपात्र बना दिया। उसपर राज-सभा में सम्मान की दृष्टि पड़ने लगी।

खाँ साहब के मन में अपने घोड़े के हाथ से निकल जाने का बड़ा शोक था। एक दिन कुँवर छत्रसाल उसी घोड़े पर सवार होकर सैर को गया था। वह खाँ साहब के महल की तरफ़ जा निकला। वली बहादुर ऐसे ही अवसर की ताक में था। उसने तुरत अपने सेवकों को इशारा किया। राजकुमार अकेला क्या करता? पाँव-पाँव घर आया और उसने सारन्धा से सब समाचार बयान किया। रानी का चेहरा तमतमा गया। बोली, "मुझे इसका शोक नहीं कि घोड़ा हाथ से गया, शोक इसका है कि तू उसे खोकर जीता क्यों लौटा? क्या तेरे शरीर में बुन्देलों का रक्त नहीं है? घोड़ा न मिलता न सही, किन्तु तुझे दिखा देना चाहिए था कि एक बुन्देला बालक से उसका घोड़ा छीन लेना हँसी नहीं है।"

यह कहकर उसने अपने पच्चीस योद्धाओं को तैयार होने की आज्ञा दी, स्वयं अस्त्र धारण किये और योद्धाओं के साथ वली बहादुर खाँ के निवास-स्थान पर जा पहुँची। खाँ साहब उसी घोड़े पर सवार होकर दरबार चले गये थे। सारन्धा दरबार की तरफ़ चली, और एक क्षण में किसी वेगवती नदी के सदृश बादशाही दरबार के सामने जा पहुँची। यह कैफ़ियत देखते ही दरबार में हलचल मच गई। अधिकारी वर्ग इधर-उधर से आकर जमा हो गये। आलमगीर भी सहन में निकल आये। लोग अपनी अपनी तलवारें सँभालने

लगे और चारों तरफ़ शोर मच गया। कितने ही नेत्रों ने इसी दरबार में अमरसिंह की तलवार की चमक देखी थी। उन्हें वही घटना फिर याद आ गई!

सारन्धा ने उच्च स्वर से कहा—खाँ साहब, बड़ी लज्जा की बात है कि आपने वही वीरता जो चम्बल के तट पर दिखानी चाहिए थी, आज एक अबोध बालक के सम्मुख दिखाई है। क्या यह उचित था कि आप उससे घोड़ा छीन लेते?

वली बहादुर खाँ की आँखों से अग्नि-ज्वाला निकल रही थी। वे कर्कश आवाज़ से बोले—किसी ग़ैर को क्या मजाज है कि मेरी चीज़ अपने काम में लाये?

रानी—वह आपकी चीज़ नहीं, मेरी है। मैंने उसे रण-भूमि में पाया है और उस पर मेरा अधिकार है। क्या रण-नीति की इतनी मोटी बात भी आप नहीं जानते?

खाँ साहब—वह घोड़ा मैं नहीं देखता, उसके बदले में सारा अस्तबल आपको नज़र है।

रानी—मैं आपका घोड़ा लूँगी।

खाँ साहब—मैं उसके बराबर जवाहरात दे सकता हूँ, परन्तु घोड़ा नहीं दे सकता।

रानी—तो फिर इसका निश्चय तलवार से होगा। बुन्देला योद्धाओं ने तलवारें सौंत लीं, और निकट था कि दरबार की भूमि रक्त से प्लावित हो जाय, बादशाह आलमगीर ने बीच में आकर कहा—रानी साहबा, आप सिपाहियों को रोकें। घोड़ा आपको मिल जायगा; परन्तु इसका मूल्य बहुत देना पड़ेगा।

रानी—मैं उसके लिए अपना सर्वस्व देने को तैयार हूँ।

बादशाह—जागीर और मन्सब कोई चीज़ नहीं।

बादशाह—अपना राज्य भी?

रानी—हाँ राज्य भी।

बादशाह—एक घोड़े लिए ?

रानी—नहीं, उस पदार्थ के लिए जो संसार में सबसे अधिक मूल्यवान् है।

बादशाह—वह क्या है ?

रानी—अपनी आन।

इस भाँति रानी ने घोड़े के लिए अपनी विस्तृत जागीर, उच्च राज-पद ौर राज-सम्मान सब हाथ से खोया और केवल इतना ही नहीं, भविष्य के तए काँटे बोये। इस घड़ी से अन्त दशा तक चम्पतराय को शान्ति न मिली।

६

राजा चम्पतराय ने फिर ओरछे के किले में पदार्पण किया। उन्हें मन्सब ौर जागीर के हाथ से निकल जाने का अत्यन्त शोक हुआ, किन्तु उन्होंने ापने मुँह से शिकायत का एक शब्द भी नहीं निकाला। वे सारन्धा के वभाव को भली भाँति जानते थे। शिकायत इस समय उसके-आत्म-गौरव पर ठार का काम करती।

कुछ दिन यहाँ शान्तिपूर्वक व्यतीत हुए। लेकिन बादशाह सारन्धा की ठोर बातें भूला न था, वह क्षमा करना जानता ही न था। ज्यों ही भाइयों ो ओर से निश्चिन्त हुआ, उसने एक बड़ी सेना चम्पतराय का गर्व चूर्ण रने के लिए भेजी और बाईस अनुभवशील सरदार इस मुहीम पर नियुक्त ्ये। शुभकरण बुँदेला बादशाह का सूबेदार था। वह चम्पतराय का चपन का मित्र और सहपाठी था। उसने चम्पतराय को परास्त करने का ाड़ा उठाया। और भी कितने ही बुन्देला सरदार राजा से विमुख होकर ादशाही सूबेदार से आ मिले। एक घोर संग्राम हुआ। भाइयों की तलवारें क्त से लाल हुईं। यद्यपि इस समर में राजा को विजय प्राप्त हुई, लेकिन नकी शक्ति सदा के लिए क्षीण हो गई। निकटवर्ती बुँदेला राजा जो चम्पत- ाय के बाहुबल थे, बादशाह के कृपाकांक्षी बन बैठे। साथियों में कुछ तो ाम आये, कुछ दग़ा कर गये। यहाँ तक कि निज सम्बन्धियों ने भी आँखें

चुरा लीं। परन्तु इन कठिनाइयों में भी चम्पतराय ने हिम्मत नहीं हारी, धीर
को न छोड़ा। उन्होंने ओरछा छोड़ दिया और वे तीन वर्ष तक बुन्देलखण्ड
के सघन पर्वतों पर छिपे फिरते रहे। बादशाही सेनाएँ शिकारी जानवरों क
भाँति सारे देश में मँड़रा रही थीं। आये दिन राजा का किसी न किसी
सामना हो जाता था। सारन्धा सदैव उनके साथ रहती और उनका साहस
बढ़ाया करतीं। बड़ी बड़ी आपत्तियों में जब कि धैर्य लुप्त हो जाता—औ
आशा साथ छोड़ देती—आत्म-रक्षा का धर्म्म उसे सँभाले रहता था। ती
साल के बाद अन्त में बादशाह के सूबेदारों ने आमलगीर को सूचना दी
इस शेर का शिकार आपके सिवाय और किसी से न होगा। उत्तर आया
सेना को हटा लो और घेरा उठा लो। राजा ने समझा, संकट से निवृत्ति हु
पर वह बात शीघ्र ही भ्रमात्मक सिद्ध हो गई।

७

तीन सप्ताह से बादशाही सेना ने ओरछा घेर रखा है। जिस तरह कठो
वचन हृदय को छेद डालते हैं, उसी तरह तोपों के गोलों ने दीवारों को छे
डाला है। किले में २० हज़ार आदमी घिरे हुए हैं, लेकिन उनमें आधे
अधिक स्त्रियाँ और उनसे कुछ ही कम बालक हैं। मर्दों की संख्या दिनों दि
न्यून होती जाती है। आने-जाने के मार्ग चारों तरफ़ से बन्द हैं। हवा क
भी गुजर नहीं। रसद का सामान बहुत कम रह गया है। स्त्रियाँ पुरुषों औ
बालकों को जीवित रखने के लिए आप उपवास करती हैं। लोग बहुत हता
हो रहे हैं। औरतें सूर्य्यनारायण की ओर हाथ उठा उठाकर शत्रु को कोसत
हैं। बालकवृन्द मारे क्रोध के दीवारों की आड़ से उन पर पत्थर फेंकते हैं,
मुश्किल से दीवार के उस पार जा पाते हैं। राजा चम्पतराय स्वयं ज्वर
पीड़ित हैं। उन्होंने कई दिन से चारपाई नहीं छोड़ी। उन्हें देखकर लोग
को कुछ ढारस होता था, लेकिन उनकी बीमारी से सारे क़िले में नैराश
छाया हुआ है।

राजा ने सारन्धा से कहा—आज शत्रु जरूर किले में घुस आयेंगे।

सारन्धा—ईश्वर न करे कि इन आँखों से वह दिन देखना पड़े।

राजा—मुझे बड़ी चिन्ता इन अनाथ स्त्रियों और बालकों की है। गेहूँ के साथ यह घुन भी पिस जायँगे।

सारन्धा—हम लोग यहाँ से निकल जायँ तो कैसा?

राजा—इन अनाथों को छोड़कर?

सारन्धा—इस समय इन्हें छोड़ देने ही में कुशल है। हम न होंगे तो शत्रु इन पर कुछ दया ही करेंगे।

राजा—नहीं, यह लोग मुझसे न छोड़े जायँगे। जिन मर्दों ने अपनी जान हमारी सेवा में अर्पण कर दी है, उनकी स्त्रियों और बच्चों को मैं कदापि नहीं छोड़ सकता।

सारन्धा—लेकिन यहाँ रहकर हम उनकी कुछ मदद भी तो नहीं कर सकते?

राजा—उनके साथ प्राण तो दे सकते हैं! मैं उनकी रक्षा में अपनी जान लड़ा दूँगा। उनके लिए बादशाही सेना की ख़ुशामद करूँगा, कारावास की कठिनाइयाँ सहूँगा, किन्तु इस संकट में उन्हें छोड़ नहीं सकता।

सारन्धा ने लज्जित होकर शिर झुका लिया और सोचने लगी, निस्सन्देह प्रिय साथियों को आग की आँच में छोड़कर अपनी जान बचाना घोर नीचता है। मैं ऐसी स्वार्थान्ध क्यों हो गई हूँ? लेकिन एकाएक विचार उत्पन्न हुआ। बोलीं—यदि आपको विश्वास हो जाय कि इन आदमियों के साथ कोई अन्याय न किया जायगा तब तो आपको चलने में कोई बाधा न होगी?

राजा—(सोचकर) कौन विश्वास दिलायेगा?

सारन्धा—बादशाह के सेनापति का प्रतिज्ञा-पत्र?

राजा—हाँ, तब मैं सानन्द चलूँगा।

सारन्धा विचार-सागर में डूबी। बादशाह के सेनापति से क्योंकर यह प्रतिज्ञा कराऊँ? कौन यह प्रस्ताव लेकर वहाँ जायगा और वे निर्दयी ऐसी प्रतिज्ञा करने ही क्यों लगे? उन्हें तो अपनी विजय की पूरी आशा है। मेरे

यहाँ ऐसा नीति-कुशल, वाक्पटु, चतुर कौन है, जो इस दुस्तर कार्य को सिद्ध करे ? छत्रसाल चाहे तो कर सकता है। उसमें ये सब गुण मौजूद हैं।

इस तरह मन में निश्चय करके रानी ने छत्रसाल को बुलाया। यह उसके चारों पुत्रों में सबसे बुद्धिमान् और साहसी था। रानी उसे सबसे अधिक प्यार करती थी। जब छत्रसाल ने आकर रानी को प्रणाम किया तो उसके कमल-नेत्र सजल हो गये और हृदय से दीर्घ निःश्वास निकल आया।

छत्रसाल—माता, मेरे लिए क्या आज्ञा है ?

रानी—आज लड़ाई का क्या ढँग है ?

छत्रसाल—हमारे पचास योद्धा अब तक काम आ चुके हैं।

रानी—बुँदेलों की लाज अब ईश्वर के हाथ है।

छत्रसाल—हम आज रात को छापा मारेंगे।

रानी ने संक्षेप से अपना प्रस्ताव छत्रसाल के सामने उपस्थित किया और कहा—यह काम किसे सौंपा जाय ?

छत्रसाल—मुझको।

"तुम इसे पूरा कर दिखाओगे ?"

"हाँ, मुझे पूर्ण विश्वास है।"

"अच्छा जाओ, परमात्मा तुम्हारा मनोरथ पूरा करे।"

छत्रसाल जब चला तो रानी ने उसे हृदय से लगा लिया और तब आकाश की ओर दोनों हाथ उठाकर कहा—दयानिधि, मैंने अपना तरुण और होनहार पुत्र बुँदेलों की आन के आगे भेंट कर दिया। अब इस आन को निभाना तुम्हारा काम है। मैंने बड़ी मूल्यवान् वस्तु अर्पित की है, इसे स्वीकार करो।

८

दूसरे दिन प्रातःकाल सारन्धा स्नान करके थाल में पूजा की सामग्री लिये मन्दिर को चली। उसका चेहरा पीला पड़ गया था और आँखों तले अँधेरा छाया जाता था। वह मन्दिर के द्वार पर पहुँची थी कि उसके थाल में बाहर

से आकर एक तीर गिरा। तीर की नोक पर एक काग़ज़ का पुर्जा लपटा हुआ था। सारन्धा ने थाल मन्दिर के चबूतरे पर रख दिया और पुर्जे को खोलकर देखा, तो आनन्द से चेहरा खिल गया। लेकिन यह आनन्द क्षण-भर का था। हाय! इस पुर्जे के लिए मैंने अपना प्रिय पुत्र हाथ से खो दिया है। काग़ज़ के टुकड़े को इतने महँगे दामों किसने लिया होगा?

मंदिर से लौटकर सारन्धा राजा चम्पतराय के पास गई और बोली, "प्राणनाथ, आपने जो वचन दिया था, उसे पूरा कीजिए।" राजा ने चौंककर पूछा, "तुमने अपना वादा पूरा कर दिया?" रानी ने वह प्रतिज्ञापत्र राजा को दे दिया। चम्पतराय ने उसे गौरव से देखा, फिर बोले, "अब मैं चलूँगा और ईश्वर ने चाहा तो एक बेर फिर शत्रुओं की ख़बर लूँगा। लेकिन सारन, सच बताओ इस पत्र के लिए क्या देना पड़ा है?"

रानी ने कुण्ठित स्वर से कहा—बहुत कुछ।

राजा—सु

रानी—एक जवान पुत्र।

राजा को बाण-सा लगा। पूछा—कौन? अंगदराय?

रानी—नहीं।

राजा—रतनसाह?

रानी—नहीं।

राजा—छत्रसाल?

रानी—हाँ।

जैसे कोई पक्षी गोली खाकर परों को फड़फड़ाता है और तब बेदम होकर गिर पड़ता है, उसी भाँति चम्पतराय पलँग से उछले और फिर अचेत होकर गिर पड़े। छत्रसाल उनका परम प्रिय पुत्र था। उनके भविष्य की सारी कामनाएँ उसी पर अवलम्बित थीं। जब चेत हुआ तब बोले, "सारन, तुमने बुरा किया। अगर छत्रसाल मारा गया तो बुँदेला वंश का नाश हो जायगा।"

अँधेरी रात थी। रानी सारन्धा घोड़े पर सवार चम्पतराय को पालकी में बैठाये किले के गुप्त मार्ग से निकली जाती थी। आज से बहुत काल पहले एक दिन ऐसी ही अँधेरी, दुःखमयी रात्रि थी। तब सारन्धा ने शीतलादेवी को कुछ कठोर वचन कहे थे। शीतलादेवी ने उस समय जो भविष्यद्वाणी की थी, वह आज पूरी हुई। क्या सारन्धा ने उसका जो उत्तर दिया था, वह भी पूरा होकर रहेगा?

९

मध्याह्न था। सूर्यनारायण सिर पर आकर अग्नि की वर्षा कर रहे थे। शरीर को झुलसानेवाली प्रचण्ड, प्रखर वायु वन और पर्वत में आग लगाती फिरती थी। ऐसा विदित होता था मानो अग्निदेव की समस्त सेना गरजती हुई चली आ रही है। गगन-मण्डल इस भय से काँप रहा था। रानी सारन्धा घोड़े पर सवार, चम्पतराय को लिये, पश्चिम की तरफ़ चली जाती थी। ओरछा दस कोस पीछे छूट चुका था और प्रतिक्षण यह अनुमान स्थिर होता जाता था कि अब हम भय के क्षेत्र से बाहर निकल आये। राजा पालकी में अचेत पड़े हुए थे और कहार पसीने में तराबोर थे। पालकी के पीछे पाँच सवार घोड़ा बढ़ाये चले आते थे, प्यास के मारे सबका बुरा हाल था। तालु सूखा जाता था। किसी वृक्ष की छाँह और कुँए की तलाश में आँखें चारों ओर दौड़ रही थीं।

अचानक सारन्धा ने पीछे तरफ़ फिरकर देखा तो उसे सवारों का एक दल आता हुआ दिखाई दिया। उसका माथा ठनका कि अब कुशल नहीं है। यह लोग अवश्य हमारे शत्रु हैं। फिर विचार हुआ कि शायद मेरे राजकुमार अपने आदमियों को लिये हमारी सहायता को आ रहे हैं। नैराश्य में भी आशा साथ नहीं छोड़ती। कई मिनट तक वह इसी आशा और भय की अवस्था में रही। यहाँ तक कि वह दल निकट आ गया और सिपाहियों के वस्त्र साफ नज़र आने लगे। रानी ने एक ठण्डी साँस ली, उसका शरीर तृणवत् काँपने लगा। यह बादशाही सेना के लोग थे।

सारन्धा ने कहारों से कहा—डोली रोक लो। बुँदेला सिपाहियों ने भी तरवारें खींच लीं। राजा की अवस्था बहुत शोचनीय थी, किन्तु जैसे दबी हुई आग हवा लगते ही प्रदीप्त हो जाती है, उसी प्रकार इस संकट का ज्ञान होते ही उनके जर्जर शरीर में वीरात्मा चमक उठी। वे पालकी का पर्दा उठाकर बाहर निकल आये। धनुष्य-बाण हाथ में ले लिया। किन्तु वह धनुष्य जो उनके हाथ में इन्द्र का वज्र बन जाता था, इस समय ज़रा भी न झुका। सिर में चक्कर आया, पैर थर्राये, और वे धरती पर गिर पड़े। भावी अमंगल की सूचना मिल गई। उस पंखरहित पक्षी के सदृश जो साँप को अपनी तरफ़ आते देखकर ऊपर को उचकता और फिर गिर पड़ता है। राजा चम्पतराय फिर सँभलकर उठे और फिर गिर पड़े। सारन्धा ने उन्हें सँभालकर बैठाया, और रोकर बोलने की चेष्टा की। परन्तु मुँह से केवल इतना निकला—प्राणनाथ! इसके आगे उसके मुँह से एक शब्द भी न निकल सका। आन पर मरनेवाली सारन्धा इस समय साधारण स्त्रियों की भाँति शक्तिहीन हो गई। लेकिन एक अंश तक यह निर्बलता स्त्री-जाति की शोभा है।

चम्पतराय बोले, "सारन्, देखो हमारा एक और वीर ज़मीन पर गिरा। शोक! जिस आपत्ति से यावज्जीवन डरता रहा उसने इस अन्तिम समय में आ घेरा। मेरी आँखों के सामने शत्रु तुम्हारे कोमल शरीर में हाथ लगायेंगे, और, मैं जगह से हिल भी न सकूँगा। हाय! मृत्यु, तू कब आयगी!" यह कहते कहते उन्हें एक विचार आया। तलवार की तरफ़ हाथ बढ़ाया, मगर हाथों में दम न था। तब सारन्धा से बोले—प्रिये, तुमने कितने ही अवसरों पर मेरी आन निभाई है।

इतना सुनते ही सारन्धा के मुरझाये हुए मुख पर लाली दौड़ गई। आँसू सूख गये। इस आशा ने कि मैं अब भी पति के कुछ काम आ सकती हूँ, उसके हृदय में बल का संचार कर दिया। वह राजा की ओर विश्वासोत्पादक भाव से देखकर बोली—ईश्वर ने चाहा तो मरते दम तक निभाऊँगी।

रानी ने समझा, राजा मुझे प्राण देने का संकेत रहे हैं।

चम्पतराय—तुमने मेरी बात कभी नहीं टाली।

सारन्धा—मरते दम तक न टालूँगी।

राजा—यह मेरी अन्तिम याचना है। इसे अस्वीकार न करना।

सारन्धा ने तलवार को निकालकर अपने वक्षःस्थल पर रख लिया और कहा—वह आपकी आज्ञा नहीं है। मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि मरूँ तो यह मस्तक आपके पद-कमलों पर हो।

चम्पतराय—तुमने मेरा मतलब नहीं समझा। क्या तुम मुझे इसलिए शत्रुओं के हाथ में छोड़ जाओगी कि मैं बेड़ियाँ पहने हुए दिल्ली की गलियों में निन्दा का पात्र बनूँ ?

रानी ने जिज्ञासा-दृष्टि से राजा को देखा। वह उनका मतलब न समझी।

राजा—मैं तुमसे एक वरदान माँगता हूँ।

रानी—सहर्ष माँगिए।

राजा—यह मेरी अन्तिम प्रार्थना है। जो कुछ कहूँगा, करोगी ?

रानी—सिर के बल करूँगी।

राजा—देखो, तुमने वचन दिया है। इनकार न करना।

रानी—(काँपकर) आपके कहने की देर है।

राजा—अपनी तलवार मेरी छाती में चुभा दो।

रानी के हृदय पर वज्राघात-सा हो गया। बोली—जीवननाथ !—इसके आगे वह और कुछ न बोल सकी, आँखों में नैराश्य छा गया।

राजा—मैं बेड़ियाँ पहनने के लिए ज़ीवित रहना नहीं चाहता।

रानी—मुझसे यह कैसे होगा ?

पाँचवाँ और अन्तिम सिपाही धरती पर गिरा। राजा ने झुँझलाकर कहा—इसी जीवन पर आन निभाने का गर्व था ?

बादशाह के सिपाही राजा की तरफ़ लपके। राजा ने नैराश्यपूर्ण भाव से रानी की ओर देखा। रानी क्षण-भर अनिश्चित रूप से खड़ी रही। लेकिन संकट में हमारी निश्चयात्मक शक्ति बलवान् हो जाती है। निकट था कि

सिपाही लोग राजा को पकड़ लें कि सारन्धा ने दामिनी की भाँति लपककर अपनी तलवार राजा के हृदय में चुभा दी।

प्रेम की नाव प्रेम के सागर में डूब गई। राजा के हृदय से रुधिर की धारा निकल रही थी, पर चेहरे पर शान्ति छाई हुई थी।

कैसा करुण हृदय है! वह स्त्री जो अपने पति पर प्राण देती थी, आज उसकी प्राणघातिका है! जिस हृदय से आलिङ्गित होकर उसने यौवन-सुख लूटा, जो हृदय उसकी अभिलाषाओं का केन्द्र था, जो हृदय उसके अभिमान का पोषक था, उसी हृदय को सारन्धा की तलवार छेद रही है! किस स्त्री की तलवार से ऐसा काम हुआ है?

आह! आत्माभिमान का कैसा विषादमय अन्त है। उदयपुर और मारवाड़ के इतिहास में भी आत्म-गौरव की ऐसी घटनाएँ नहीं मिलतीं।

बादशाही सिपाही सारन्धा का यह साहस और धैर्य्य देखकर दङ्ग रह गये। सरदार ने आगे बढ़कर कहा—रानी साहिबा, खुदा गवाह है; हम सब आपके गुलाम हैं। आपका जो हुक्म हो उसे ब-सरो-चश्म बजा लायेंगे।

सारन्धा ने कहा—अगर हमारे पुत्रों में से कोई जीवित हो, तो ये दोनों लाशें उसे सौंप देना।

यह कहकर उसने वही तलवार अपने हृदय में चुभा ली। जब वह अचेत होकर धरती पर गिरी तो उसका सिर राजा चम्पतराय की छाती पर था।

मर्यादा की वेदी

यह वह समय था जब चित्तौड़ में मृदुभाषिणी मीरा प्यासी आत्माओं को ईश्वर-प्रेम के प्याले पिलाती थी। रणछोड़जी के मन्दिर में जब भक्ति से विह्वल होकर वह अपने मधुर स्वरों में अपने पीयूष-पूरित पदों को गाती, तो श्रोतागण प्रेमानुराग से उन्मत्त हो जाते। प्रतिदिन यह स्वर्गीय आनन्द उठाने के लिए सारे चित्तौड़ के लोग ऐसे उत्सुक होकर दौड़ते, जैसे दिन-भर की प्यासी गायें दूर से किसी सरोवर को देखकर उसकी ओर दौड़ती हैं। इस प्रेम-सुधा-सागर से केवल चित्तौड़वासियों ही की तृप्ति न होती थी, बल्कि समस्त राजपूताना की मरुभूमि प्लावित हो जाती थी।

एक बार ऐसा संयोग हुआ कि झालावाड़ के रावसाहब और मन्दार राज्य के कुमार दोनो ही लाव-लश्कर के साथ चित्तौड़ आये। रावसाहब के साथ राजकुमारी प्रभा भी थी, जिसके रूप और गुण की दूर तक चर्चा थी। यहीं रणछोरजी के मन्दिर में दोनों की आँखें मिलीं। प्रेम ने बाण चलाया।

राजकुमार सारे दिन उदासीन भाव से शहर की गलियों में घूमा करता। राजकुमारी विरह से व्यथित अपने महल के झरोखों से झाँका करती। दोनों व्याकुल होकर सन्ध्या समय मन्दिर में आते और यहाँ चन्द्र को देखकर कुमुदिनी खिल जाती।

प्रेम-प्रवीण मीरा ने कई बार इन दोनों प्रेमियों को सतृष्ण नेत्रों से परस्पर देखते हुए पाकर उनके मन के भावों को ताड़ लिया। एक दिन कीर्त्तन के पश्चात् जब झालावाड़ के रावसाहब चलने लगे तो उसने मन्दार के राज-कुमार को बुलाकर उनके सामने खड़ा कर दिया और कहा—रावसाहब, मैं प्रभा के लिए यह वर लाई हूँ, आप इसे स्वीकार कीजिए।

प्रभा लज्जा से गड़-सी गई। राजकुमार के गुण-शील पर रावसाहब पहले

ही से मोहित हो रहे थे। उन्होंने तुरन्त उसे छाती से लगा लिया।

उसी अवसर पर चित्तौड़ के राणा भोजराज भी मन्दिर में आये। उन्होंने प्रभा का मुख-चन्द्र देखा। उनकी छाती पर साँप लोटने लगा।

२

झालावाड़ में बड़ी धूम थी। राजकुमारी प्रभात का आज विवाह होगा। मन्दार से बारात आयेगी। मेहमानों के सेवा-सम्मान की तय्यारियाँ हो रही थीं। दूकानें सजी हुई थीं। नौबतखाने आमोदालाप से गूँजते थे। सड़कों पर सुगन्धि छिड़की जाती थी। अट्टालिकाएँ पुष्प-लताओं से शोभायमान थीं। पर जिसके लिए ये सब तय्यारियाँ हो रही थीं, वह अपनी वाटिका के एक वृक्ष के नीचे उदास बैठी हुई रो रही थी।

रनिवास में डोमिनियाँ आनन्दोत्सव के गीत गा रही थीं। कहीं सुन्दरियों के हाव-भाव थे, कहीं आभूषणों की चमक-दमक, कहीं हास-परिहास की बहार। नाइन बात-बात पर तेज़ होती थी। मालिन गर्व से फूली न समाती थी। धोबिन आँखें दिखाती थी। कुम्हारिन मटके के सदृश फूली हुई थी। मण्डप के नीचे पुरोहितजी बात-बात पर सुवर्ण-मुद्राओं के लिए ठुनकते थे। रानी सिर के बाल खोले भूखी-प्यासी चारों ओर दौड़ती थी। सबकी बौछारें सहती थी और अपने भाग्य को सराहती थी। दिल खोलकर हीरे-जवाहिर लुटा रही थी। आज प्रभा का विवाह है, बड़े भाग्य से ऐसी बातें सुनने में आती हैं। सब के सब अपनी-अपनी धुन में मस्त हैं। किसी को प्रभा की फ़िक्र नहीं है, जो वृक्ष के नीचे अकेली बैठी रो रही है।

एक रमणी ने आकर नाइन से कहा—बहुत बढ़-बढ़कर बातें न कर, कुछ राजकुमारी का भी ध्यान है? चल उनके बाल गूँथ।

नाइन ने दाँतों तले जीभ दबाई। दोनों प्रभात को ढूँढ़ती हुई बाग में पहुँचीं। प्रभा ने उन्हें देखते ही आँसू पोंछ डाले। नाइन मोतियों से माँग भरने लगी और प्रभा सिर नीचा किये आँखों से मोती बरसाने लगी।

रमणी ने सजल-नेत्र होकर कहा—बहिन, दिल इतना छोटा मत करो। मुँहमाँगी मुराद पाकर इतनी उदास क्यों होती हो?

प्रभा ने सहेली की ओर देखकर कहा—बहिन, न जाने क्यों दिल बैठा जाता है। सहेली ने छेड़कर कहा—पिया-मिलन की बेकली है!

प्रभा उदासीन भाव से बोली—कोई मेरे मन में बैठा कह रहा है कि अब उनसे मुलाकात न होगी।

सहेली उसके केश सँवारकर बोली—जैसे उषःकाल से पहले कुछ अँधेरा हो जाता है, उसी प्रकार मिलाप के पहले प्रेमियों का मन अधीर हो जाता है।

प्रभा बोली—नहीं बहिन, यह बात नहीं। मुझे शकुन अच्छे नहीं दिखाई देते। आज दिन-भर मेरी आँख फड़कती रही। रात को मैंने बुरे स्वप्न देखे हैं। मुझे शंका होती है कि आज अवश्य कोई न कोई विघ्न पड़नेवाला है। तुम राणा भोजराज को जानती हो न?

सन्ध्या हो गई। आकाश पर तारों के दीपक जले। झालावाड़ में बूढ़े-जवान सभी लोग बारात की अगुवानी के लिए तैयार हुए। मरदों ने पागें सँवारीं, शस्त्र सजे। युवतियाँ शृङ्गार कर गातीं-बजातीं रनिवास की ओर चलीं। हज़ारों स्त्रियाँ छत पर बैठीं बारात की राह देख रही थीं।

अचानक शोर मचा कि बारात आ गई। लोग सँभल बैठे, नगाड़ों पर चोटें पड़ने लगीं। सलामियाँ दगने लगीं। जवानों ने घोड़ों को एक लगाई। एक क्षण में सवारों की एक सेना राज-भवन के सामने आकर खड़ी हो गई। लोगों को देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि यह मन्दार की बारात नहीं थी, बल्कि राणा भोजराज की सेना थी।

झालावाड़वाले अभी विस्मित खड़े ही थे, कुछ निश्चय न कर सके थे कि क्या करना चाहिए। इतने में चित्तौड़वालों ने राज-भवन को घेर लिया। तब झालावाड़ी भी सचेत हुए। सँभलकर तलवारें खींच लीं और आक्रमण-कारियों पर टूट पड़े। राजा महल में घुस गया। रनिवास में भगदड़ मच गई।

प्रभा सोलहों शृङ्गार किये सहेलियों के साथ बैठी थी। यह हलचल

देखकर घबराई। इतने में रावसाहब हाँफते हुए आये और बोले—बेटी प्रभा, राणा भोजराज ने हमारे महल को घेर लिया है। तुम चटपट ऊपर चली जाओ और द्वार को बन्द कर लो। अगर हम क्षत्रिय हैं, तो एक चित्तौड़ी भी यहाँ से जीता न जायगा।

रावसाहब बात भी पूरी न करने पाये थे कि राणा कई वीरों के साथ आ पहुँचे और बोले—चित्तौड़वाले तो सिर कटाने के लिए आये ही हैं। पर यदि वे राजपूत हैं तो राजकुमारी लेकर ही जायँगे।

वृद्ध रावसाहब की आँखों से ज्वाला निकलने लगी। वे तलवार खींचकर राणा पर झपटे। उन्होंने वार बचा लिया और प्रभा से कहा—राजकुमारी, हमारे साथ चलोगी?

प्रभा सिर झुका के राणा के सामने आकर बोली—हाँ चलूँगी।

रावसाहब को कई आदमियों ने पकड़ लिया था। वे तड़पकर बोले—प्रभा, तू राजपूत की कन्या है?

प्रभा की आँखें सजल हो गईं। बोली—राणा भी तो राजपूतों के कुल-तिलक हैं। रावसाहब ने आकर कहा—निर्लज्जा!

कटार के नीचे पड़ा हुआ बलिदान का पशु जैसी दीन दृष्टि से देखता है, उसी भाँति प्रभा ने रावसाहब की ओर देखकर कहा—जिस झालावाड़ की गोद में पली हूँ, क्या उसे रक्त से रँगवा दूँ?

रावसाहब ने क्रोध से काँपकर कहा—क्षत्रियों को रक्त इतना प्यारा नहीं होता। मर्यादा पर प्राण देना उनका धर्म है।

तब प्रभा की आँखें लाल हो गईं। चेहरा तमतमाने लगा।

बोली—राजपूत-कन्या आपके सतीत्व की रक्षा आप कर सकती है। इसके लिए रुधिर-प्रवाह की आवश्यकता नहीं।

पल-भर में राणा ने प्रभा को गोद में उठा लिया। बिजली की भाँति झपटकर बाहर निकले। उन्होंने उसे घोड़े पर बिठा लिया, आप सवार हो गये और घोड़े को उड़ा दिया। अन्य चित्तौड़ियों ने भी घोड़ों की बागें मोड़ दीं।

उन के सौ जवान भूमि पर पड़े तपड़ रहे थे, पर किसी ने तलवार न उठाई थी।

रात को दस बजे मन्दारवाले भी पहुँचे। मगर यह शोक-समाचार पाते ही लौट गये। मन्दार-कुमार निराशा से अचेत हो गया। जैसे रात को नदी का किनारा सुनसान हो जाता है, उसी तरह सारी रात झालावाड़ में सन्नाटा छाया रहा।

(२)

चित्तौड़ के रंग-महल में प्रभा उदास बैठी सामने के सुन्दर पौधों की पत्तियाँ गिन रही थी। सन्ध्या का समय था। रंगबिरंग के पक्षी वृक्षों पर बैठे कलरव कर रहे थे। इतने में राणा ने कमरे में प्रवेश किया। प्रभा उठकर खड़ी हो गई।

राणा बोले—प्रभा, मैं तुम्हारा अपराधी हूँ। मैं बलपूर्वक तुम्हें माता-पिता की गोद से छीन लाया। पर यदि मैं तुमसे कहूँ कि यह सब तुम्हारे प्रेम से विवश होकर मैंने किया, तो तुम मन में हँसोगी और कहोगी कि यह निराले, अनूठे ढंग की प्रीति है। पर वास्तव में यही बात है। जब से मैंने रणछोड़जी के मन्दिर में तुमको देखा, तब से एक क्षण भी ऐसा नहीं बीता कि मैं तुम्हारी सुधि में विकल न रहा होऊँ। तुम्हें अपनाने का अन्य कोई उपाय होता, तो मैं कदापि इस पाशविक ढंग से काम न लेता। मैंने रावसाहबकी सेवा में वारंवार सन्देशे भेजे, पर उन्होंने हमेशा मेरी उपेक्षा की। अन्त में जब तुम्हारे विवाह की अवधि आ गई और मैंने देखा कि एक ही दिन में तुम दूसरे की प्रेम-पात्री हो जाओगी, और तुम्हारा ध्यान करना भी मेरी आत्मा को दूषित करेगा, तो लाचार हो कर मुझे यह अनीति करनी पड़ी। मैं मानता हूँ कि यह सर्वथा मेरी स्वार्थान्धता है। मैंने अपने प्रेम के सामने तुम्हारे मनोगत भावों को कुछ न समझा, पर प्रेम स्वयं एक बढ़ी हुई स्वार्थ-परता है, जब मनुष्य को अपने प्रियतम के सिवाय और कुछ नहीं सूझता। मुझे पूरा विश्वास था कि मैं अपने विनीत भाव और प्रेम से तुम को अपना

लूँगा। प्रभा, प्यास से मरता हुआ मनुष्य यदि किसी गढ़े में मुँह डाल दे, तो वह दण्ड का भागी नहीं है। मैं प्रेम का प्यासा हूँ। मीरा मेरी सहधर्मिणी है। उसका हृदय प्रेम का अगाध सागर है। उस का एक चुल्लू भी मुझे उन्मत्त करने के लिए काफ़ी था। पर जिस हृदय में ईश्वर का वास हो वहाँ मेरे लिए स्थान कहाँ? तुम शायद कहोगी कि यदि तुम्हारे सिर पर प्रेम का भूत सवार था तो क्या सारे राजपूताने में स्त्रियाँ न थीं। निस्संदेह राजपूताने में सुन्दरता का अभाव नहीं है और न चित्तौड़ाधिपति की ओर से विवाह की बातचीत किसी के अनादर का कारण हो सकती है। पर इस का जवाब तुम आप ही हो। इस का दोष तुम्हारे ही ऊपर है। राजस्थान में एक ही चित्तौड़ है, एक ही राणा और एक ही प्रभा। सम्भव है मेरे भाग्य में प्रेमानन्द भोगना न लिखा हो। यह मैं अपने कर्म-लेख को मिटाने का थोड़ा-सा प्रयत्न कर रहा हूँ। परन्तु भाग्य के अधीन बैठे रहना पुरुषों का काम नहीं है। मुझे इसमें सफलता होगी या नहीं, इस का फैसला तुम्हारे हाथ है।

प्रभा की आँखें जमीन की तरफ़ थीं और मन फुदकनेवाली चिड़िया की भाँति इधर उधर उड़ता फिरता था। वह झालावाड़ को मारकाट से बचाने के लिए राणा के साथ आई थी मगर राणा के प्रति उस के हृदय में क्रोध की तरंगें उठ रही थीं। उसने सोचा था कि वे यहाँ आयेंगे तो उन्हें राजपूत-कुल-कलंक, अन्यायी, दुराचारी, दुरात्मा, कायर कहकर उनका गर्व चूर चूर कर दूँगी। उसको विश्वास था कि यह अपमान उनसे न सहा जायगा और वे मुझे बलात् अपने काबू में लाना चाहेंगे? इस अन्तिम समय के लिए उसने अपने हृदय को खूब मजबूत और अपनी कटार को खूब तेज कर रखा था। उसने निश्चय कर लिया था कि इसका एक वार उन पर होगा, दूसरा अपने कलेजे पर और इस प्रकार यह पाप-काण्ड समाप्त हो जायगा। लेकिन राणा की नम्रता, उनकी करुणात्मक विवेचना, और उनके विनीत भाव ने प्रभा को शान्त कर दिया। आग पानी से बुझ जाती है। राणा कुछ देर वहाँ बैठे रहे, फिर उठकर चले गये।

४

प्रभा को चित्तौड़ में रहते दो महीने गुज़र चुके हैं। राणा उसके पास फिर न आये। इस बीच में उनके विचारों में बहुत कुछ अन्तर हो गया है। झालावाड़ पर आक्रमण होने के पहले मीराबाई को इसकी बिल्कुल ख़बर न थी। राणा ने इस प्रस्ताव को गुप्त रखा था। किन्तु अब मीराबाई प्रायः उन्हें इस दुराग्रह पर लज्जित किया करती है और धीरे-धीरे राणा को भी विश्वास होने लगा है कि प्रभा इस तरह काबू में नहीं आ सकती। उन्होंने उसके सुख-विलास की सामग्री एकत्र करने में कोई कसर नहीं रख छोड़ी थी। लेकिन प्रभा उनकी तरफ़ आँख उठाकर भी नहीं देखती। राणा प्रभा की लौंडियों से नित्य का समाचार पूछा करते हैं और उन्हें रोज़ वही निराशापूर्ण वृत्तान्त सुनाई देता है। मुरझाई हुई कली किसी भाँति नहीं खिलती। अतएव उनको कभी-कभी अपने इस दुस्साहस पर पश्चात्ताप होता है। वे पछताते है कि मैने व्यर्थ ही यह अन्याय किया। लेकिन फिर प्रभा का अनुपम सौन्दर्य्य नेत्रों के सामने आ जाता है और वह अपने मन को इस विचार से समझा लेते हैं कि एक सगर्वा सुन्दरी का प्रेम इतना जल्दी परिवर्त्तित नहीं हो सकता। निस्सन्देह मेरा मृदु-व्यवहार कभी न कभी अपना प्रभाव दिखलायेगा।

प्रभा सारे दिन अकेली बैठी-बैठी उकताती और झुँझलाती थी। उसके विनोद के निमित्त कई गानेवाली स्त्रियाँ नियुक्त थीं। किन्तु राग-रङ्ग से उसे अरुचि हो गई। वह प्रतिक्षण चिन्ताओं में डूबी रहती थी।

राणा के नम्र भाषण का प्रभाव अब मिट चुका था और उनकी अमानुषिक वृत्ति अब फिर अपने यथार्थ रूप में दिखाई देने लगी थी। वाक्य-चतुरता शान्तिकारक नहीं होती। वह केवल निरुत्तर कर देती है! प्रभा को अब अपने अवाक् हो जाने पर आश्चर्य होता है। उसे राणा की बातों के उत्तर भी सूझने लगे हैं। वह कभी-कभी उनसे लड़कर अपनी क़िस्मत का फ़ैसला करने के लिए विकल हो जाती है।

मगर अब वाद-विवाद किस काम का? वह सोचती है कि मैं राव-

ाहब की कन्या हूँ, पर संसार की दृष्टि में राणा की रानी हो चुकी। अब
दि मैं इस क़ैद से छूट भी जाऊँ तो मेरे लिए कहाँ ठिकाना है? मैं कैसे
ुँह दिखाऊँगी? इससे केवल मेरे वंश का ही नहीं वरन् समस्त राजपूत
ाति का नाम डूब जायगा। मन्दार-कुमार मेरे सच्चे प्रेमी हैं। मगर क्या वे
ुझे अङ्गीकार करेंगे? और यदि वे निन्दा की परवाह न करके मुझे ग्रहण भी
र लें तो उनका मस्तक सदा के लिए नीचा हो जायगा, और कभी न कभी
नका मन मेरी तरफ़ से फिर जायगा। वे मुझे अपने कुल का कलंक समझने
ागेंगे। या यहाँ से कसी तरह भाग जाऊँ? लेकिन भागकर जाऊँ कहाँ? बाप
े घर? वहाँ अब मेरी पैठ नहीं। मन्दार-कुमार के पास? इसमें उनका
पमान है और मेरा भी। तो क्या भिखारिणी वन जाऊँ। इसमें भी जग-
साई होगी और न जाने प्रबल भावी किस मार्ग पर ले जाय। एक अबला
्री के लिए सुन्दरता प्राणघातक यन्त्र से कम नहीं। ईश्वर, वह दिन न
ाये कि मैं क्षत्रिय जाति का कलंक बनूँ। क्षत्रिय जाति ने मर्यादा के लिए
ानी की तरह रक्त बहाया है। उनकी हजारों देवियाँ पर-पुरुष के मुँह देखने
े भय से सूखी लकड़ी के समान जल मरी हैं। ईश्वर, वह घड़ी न आये कि
ेरे कारण किसी राजपूत का सिर लज्जा से नीचा हो। नहीं, मैं इसी क़ैद में
र जाऊँगी। राणा के अन्याय सहूँगी, जलूँगी, मरूँगी, पर इसी घर में।
िवाह जिससे होना था, हो चुका। हृदय में उसकी उपासना करूँगी, पर
ण्ठ के बाहर उसका नाम न निकालूँगी।

एक दिन झुँझलाकर उसने राणा को बुला भेजा। वे आये। उनका
हरा उतरा था। वे कुछ चिन्तित-से थे। प्रभा कुछ कहना चाहती थी, पर
नकी सूरत देखकर उसे उन पर दया आ गई। उन्होंने उसे बात करने का
वसर न देकर स्वयं कहना शुरू किया।

"प्रभा, तुमने आज मुझे बुलाया है। यह मेरा सौभाग्य है। तुमने मेरी
ुधि तो ली। मगर यह मत समझो कि मैं मृदु-वाणी सुनने की आज्ञा लेकर
ाया हूँ। नहीं, मैं जानता हूँ जिसके लिए तुमने मुझे बुलाया है। यह लो

तुम्हारा अपराधी तुम्हारे सामने खड़ा है। उसे जो दण्ड चाहो दो। मुझे अब तक आने का साहस न हुआ। इसका कारण यही दण्ड-भय था। तुम क्षत्राणी हो और क्षत्राणियाँ क्षमा करना नहीं जानतीं। झालावाड़ में जब तुम मेरे साथ आने पर स्वयं उद्यत हो गईं, तो मैंने उसी क्षण तुम्हारे जौहर परख लिये। मुझे मालूम हो गया कि तुम्हारा हृदय बल और विश्वास से भरा हुआ है और उसे काबू में लाना सहज नहीं। तुम नहीं जानतीं कि यह एक मास मैंने किस तरह काटा है। तड़प-तड़पकर मर रहा हूँ। पर जिस तरह शिकारी बफरी हुई सिंहिनी के सम्मुख जाने से डरता है वही दशा मेरी थी। मैं कई बार आया, यहाँ तुमको उदास तिउरियाँ चढ़ाये बैठे देखा। मुझे अन्दर पैर रखने का साहस न हुआ। मगर आज मैं बिना बुलाया मेहमान नहीं हूँ। तुमने मुझे बुलाया है और तुम्हें अपने मेहमान का स्वागत करना चाहिए। हृदय से न सही—जहाँ अग्नि प्रज्ज्वलित हो वहाँ ठण्डक कहाँ?—बातों ही से सही, अपने भावों को दबाकर ही सही, मेहमान का स्वागत करो। संसार में शत्रु का आदर मित्रों से भी अधिक किया जाता है।

"प्रभा, एक क्षण के लिए क्रोध को शान्त करो और मेरे अपराधों पर विचार करो। तुम मेरे ऊपर यही दोषारोपण कर सकती हो कि मैं तुम्हें माता-पिता की गोद से छीन लाया। तुम जानती हो, कृष्ण भगवान् रुक्मिणी को हर लाये थे। राजपूतों में यह कोई नई बात नहीं है। तुम कहोगी, इससे झालावाड़वालों का अपमान हुआ; पर ऐसा कहना कदापि ठीक नहीं। झालावाड़वालों ने वही किया जो मर्दों का धर्म था। उनका पुरुषार्थ देखकर हम चकित हो गये। यदि वे कृतकार्य नहीं हुए तो यह उनका दोष नहीं है। वीरों की सदैव जीत नहीं होती। हम इसलिए सफल हुए कि हमारी संख्या अधिक थी और इस काम के लिए तैयार होकर गये थे। वे निश्शंक थे, इस कारण उनकी हार हुई। यदि हम वहाँ से शीघ्र ही प्राण बचाकर भाग न आते तो हमारी गति वही होती जो रावसाहब ने कही थी। एक भी

चित्तौड़ी न बजता। लेकिन ईश्वर के लिए यह मत सोचो कि मैं अपने अप-राध के दूषण को मिटाना चाहता हूँ। नहीं, मुझसे अपराध हुआ और मैं हृदय से उस पर लज्जित हूँ। पर अब तो जो कुछ होना था, हो चुका। अब इस बिगड़े हुए खेल को मैं तुम्हारे ऊपर छोड़ता हूँ। यदि मुझे तुम्हारे हृदय में कोई स्थान मिले तो मैं उसे स्वर्ग समझूँगा। डूबते हुए को तिनके का सहारा भी बहुत है। क्या यह सम्भव है?"

प्रभा बोली--नहीं।

राणा—झालावाड़ जाना चाहती हो?

प्रभा—नहीं।

राणा—मन्दार के राजकुमार के पास भेज दूँ?

प्रभा—कदापि नहीं।

राणा—लेकिन मुझ से यह तुम्हारा कुढ़ना देखा नहीं जाता।

प्रभा—आप इस कष्ट से शीघ्र ही मुक्त हो जायँगे।

राणा ने भयभीत दृष्टि से देखकर कहा "जैसी तुम्हारी इच्छा" और वे वहाँ से उठकर चले गये।

५

दस बजे रात का समय था। रणछोड़जी के मन्दिर में कीर्तन समाप्त हो चुका था और वैष्णव साधु बैठे हुए प्रसाद पा रहे थे। मीरा स्वयं अपने हाथों से थाल ला-लाकर उनके आगे रखती थी। साधुओं और अभ्यागतों के आदर-सत्कार में उस देवी को आत्मिक आनन्द प्राप्त होता था। साधुगण जिस प्रेम से भोजन करते थे, उससे यह शंका होती थी कि स्वादपूर्ण वस्तुओं में कहीं भक्ति-भजन से भी अधिक सुख तो नहीं है। यह सिद्ध हो चुका है कि ईश्वर की दी हुई वस्तुओं का सदुपयोग ही ईश्वरोपासना की मुख्य रीति है। इसलिए ये महात्मा लोग उपासना के ऐसे अच्छे अवसरों को क्यों खोते? वे कभी पेट पर हाथ फेरते और कभी आसन बदलते थे। मुँह से 'नहीं' कहना तो वे घोर पाप के समान समझते थे। यह भी मानी हुई बात

है कि जैसी वस्तुओं का हम सेवन करते हैं, वैसी ही आत्मा भी बनती है। इसलिए ये महात्मागण घी और खोये से उदर को ख़ूब भर रहे थे।

पर इन्हीं में एक महात्मा ऐसे भी थे जो आँखें बन्द किये ध्यान में मग्न थे। थाल की ओर ताकते भी न थे। इनका नाम प्रेमानन्द था। ये आज ही आये थे। इनके चेहरे पर कान्ति झलकती थी। अन्य साधु खाकर उठ गये, परन्तु उन्होंने थाल छुआ भी नहीं।

मीरा ने हाथ जोड़कर कहा—महाराज, आपने प्रसाद को छुआ भी नहीं। दासी से कोई अपराध तो नहीं हुआ ?

साधु—नहीं, इच्छा नहीं थी।

मीरा—पर मेरी विनय आपको माननी पड़ेगी।

साधु—मैं तुम्हारी आज्ञा पालन करूँगा, तो तुमको भी मेरी एक बात माननी होगी।

मीरा—कहिए, क्या आज्ञा है ?

साधु—माननी पड़ेगी।

मीरा—मानूँगी।

साधु—वचन देती हूँ, आप प्रसाद पायें।

मीराबाई ने समझा था कि साधु कोई मन्दिर बनवाये या कोई यज्ञ पूर्ण करा देने की याचना करेगा। ऐसी बातें नित्य-प्रति हुआ ही करती थीं और मीरा का सर्वस्व साधु-सेवा के लिए अर्पित था। परन्तु उसके लिए साधु ने ऐसी कोई याचना न की। वह मीरा के कानों के पास मुँह ले जाकर बोला—आज दो घण्टे के बाद राज-भवन का चोर दरवाजा खोल देना।

मीरा विस्मित होकर बोली—आप कौन हैं ?

साधु—मन्दार का राजकुमार।

मीरा ने राजकुमार को सिर से पाँव तक देखा। नेत्रों में आदर की जगह घृणा थी। कहा—राजपूत यों छल नहीं करते।

राजकुमार—यह नियम उस अवस्था के लिए है जब दोनों पक्ष समान शक्ति रखते हों।

मीरा—ऐसा नहीं हो सकता।

राजकुमार—आपने वचन दिया है, उसे पालन करना होगा।

मीरा—महाराज की आज्ञा के सामने मेरे वचन का कोई महत्त्व नहीं।

राजकुमार—मैं यह कुछ नहीं जानता। यदि आपको अपने वचन की कुछ भी मर्यादा है तो उसे पूरा कीजिए।

मीरा—(सोचकर) महल में जाकर क्या करोगे ?

राजकुमार—नई रानी से दो दो बातें।

मीरा चिन्ता में विलीन हो गई। एक तरफ़ राणा की कड़ी आज्ञा थी और दूसरी तरफ़ अपना वचन और उसका पालन करने का परिणाम। कितनी ही पौराणिक घटनाएँ उसके सामने आ रही थीं। दशरथ ने वचन पालने के लिए अपने प्रिय पुत्र को वनवास दे दिया। मैं वचन दे चुकी हूँ। उसे पूरा करना मेरा परम धर्म है। लेकिन पति की आज्ञा को कैसे तोड़ूँ। यदि उनकी आज्ञा के विरुद्ध करती हूँ तो लोक और परलोक दोनों बिगड़ते हैं। क्यों न उनसे स्पष्ट कह दूँ। क्या वे मेरी यह प्रार्थना स्वीकार न करेंगे ? मैंने आज तक उनसे कुछ नहीं माँगा। आज उनसे यह दान माँगूँगी। क्या वे मेरी वचन की मर्यादा की रक्षा न करेंगे ? उनका हृदय कितना विशाल है। निस्संदेह वे मुझ पर वचन तोड़ने का दोष न लगने देंगे।

इस तरह मन में निश्चय करके वह बोली—कब खोल दूँ ?

राजकुमार ने उछलकर कहा—आधी रात को।

मीरा—मैं स्वयं तुम्हारे साथ चलूँगी।

राजकुमार—क्यों ?

मीरा—तुमने मेरे साथ छल किया है। मुझे तुम्हारा विश्वास नहीं है।

राजकुमार ने लज्जित होकर कहा—अच्छा तो आप द्वार पर खड़ी रहिएगा।

मीरा—यदि फिर कोई दगा किया तो जान से हाथ धोना पड़ेगा।

राजकुमार—मैं सब कुछ सहने के लिए तय्यार हूँ।

६

मीरा यहाँ से राणा की सेवा में पहुँची। वे उसका बहुत आदर करते थे। वे खड़े हो गये। इस समय मीरा का जाना एक असाधारण बात थी। उन्होंने पूछा—बाईजी, क्या आज्ञा है ?

मीरा—आपसे भिक्षा माँगने आई हूँ। निराश न कीजिएगा। मैंने आज तक आप से कोई विनती नहीं की, पर आज एक ब्रह्म-फाँस में फँस गई हूँ। इसमें से मुझे आप ही निकाल सकते हैं। मन्दार के राजकुमार को तो आप जानते हैं ?

राणा—हाँ, अच्छी तरह।

मीरा—आज उसने मुझे बड़ा धोखा दिया। एक वैष्णव महात्मा का रूप धारण कर रणछोड़जी के मन्दिर में आया और उसने छल करके मुझे वचन देने पर बाध्य किया। मेरा साहस नहीं होता कि उसकी कपट-विनय आप से कहूँ।

राणा—प्रभा से मिला देने को तो नहीं कहा ?

मीरा—जी हाँ, उसका अभिप्राय वही है। लेकिन सवाल यह है कि मैं आधी रात को राजमहल का गुप्त द्वार खोल दूँ। मैंने उसे बहुत समझाया ; बहुत धमकाया ; पर वह किसी भाँति न माना। निदान विवश होकर जब मैंने वादा कर दिया तब उसने प्रसाद पाया। अब मेरे वचन की लाज आपके हाथ है। आप चाहे उसे पूरा करके मेरा मान रखें, चाहे उसे तोड़कर मेरा मान तोड़ दें। आप मेरे ऊपर जो कृपादृष्टि रखते हैं, उसी के भरोसे मैंने वचन दिया। अब मुझे इस फन्दे से उबारना आप ही का काम है।

राणा कुछ देर सोचकर बोले—तुमने वचन दिया है उसका पालन करना मेरा कर्तव्य है। तुम देवी हो, तुम्हारे वचन नहीं टल सकते। द्वार खोल दो। लेकिन यह उचित नहीं है कि वह अकेले प्रभा से मुलाकात करे। तुम स्वयं उसके साथ जाना। मेरी ख़ातिर से इतना कष्ट उठाना। मुझे भय है

कि वह उसकी जान लेने का इरादा करके न आया हो। ईर्ष्या में मनुष्य अन्धा हो जाता है। बाईजी, मैं अपने हृदय की बात तुमसे कहता हूँ। मुझे प्रभा को हर लाने का अत्यन्त शोक है। मैंने समझा था कि यहाँ रहते-रहते वह हिल-मिल जायगी ; किन्तु यह अनुमान ग़लत निकला। मुझे भय है कि यदि उसे कुछ दिन यहाँ और रहना पड़ा तो वह जीती न बचेगी। मुझ पर एक अबला की हत्या का अपराध लग जायगा। मैंने उससे झालावाड़ जाने के लिए कहा, पर वह राज़ी न हुई। आज तुम उन दोनो की बातें सुनो। अगर वह मन्दार-कुमार के साथ जाने पर राजी हो, तो मैं प्रसन्नतापूर्वक अनुमति दे दूँगा। मुझसे कुढ़ना नहीं देखा जाता। ईश्वर इस सुन्दरी का हृदय मेरी ओर फेर देता तो मेरा जीवन सफल हो जाता। किंतु जब यह सुख भाग्य में लिखा ही नहीं है, तो क्या बस है। मैंने तुमसे ये बातें कहीं, इसके लिए मुझे क्षमा करना। तुम्हारे पवित्र हृदय में ऐसे विषयों के लिए स्थान कहाँ ?

मीरा ने आकाश की ओर सङ्कोच से देखकर कहा—तो मुझे आज्ञा है ? मैं चोर-द्वार खोल दूँ ?

राणा—तुम इस घर की स्वामिनी हो, मुझसे पूछने की ज़रूरत नहीं।

मीरा राणा को प्रणाम कर चली गई।

७

आधी रात बीत चुकी थी। प्रभा चुपचाप बैठी दीपक की ओर देख रही थी और सोचती थी, इसके घुलने से प्रकाश होता है ; यह बत्ती अगर जलती है तो दूसरों को लाभ पहुँचाती है। मेरे जलने से किसी को क्या लाभ ? मैं क्यों घुलूँ ? मेरे जीने की क्या ज़रूरत है ?

उसने फिर खिड़की से सिर निकालकर आकाश की तरफ़ देखा। काले पट पर उज्ज्वल तारे जगमगा रहे थे। प्रभा ने सोचा, मेरे अन्धकारमय भाग्य में ये दीप्तिमान तारे कहाँ हैं ? मेरे लिए जीवन के सुख कहाँ हैं ? क्या रोने के लिए जीऊँ ? ऐसे जीने से क्या लाभ ? और जीने में उपहास भी तो है। मेरे मन का हाल कौन जानता है ? संसार मेरी निन्दा करता होगा। झाला-

वाड़ की स्त्रियाँ मेरी मृत्यु के शुभ समाचार सुनने की प्रतीक्षा कर रही होंगी। मेरी प्रिय माता लज्जा से आँखें न उठा सकती होगी। लेकिन जिस समय मेरे मरने की ख़बर मिलेगी गर्व से उनका मस्तक ऊँचा हो जायगा। यह बेहयाई का जीना है। ऐसे जीने से मरना कहीं उत्तम है।

प्रभा ने तकिये के नीचे से एक चमकती हुई कटार निकाली। उसके हाथ काँप रहे थे। उसने कटार की तरफ़ आँखें जमाईं। हृदय को उसके अभिवादन के लिए मज़बूत किया। हाथ उठाया किन्तु न उठा; आत्मा दृढ़ न थी। आँखें झपक गईं। सिर में चक्कर आ गया। कटार हाथ से छूटकर ज़मीन पर गिर पड़ी।

प्रभा क्रुद्ध होकर सोचने लगी—क्या मैं वास्तव में निर्लज्ज हूँ? मैं राजपूतानी होकर मरने से डरती हूँ? मान-मर्यादा खोकर बेहया लोग ही जिया करते हैं। वह कौन-सी आकांक्षा है जिसने मेरी आत्मा को इतना निर्बल बना रखा है? क्या राणा की मीठी-मीठी बातें? राणा मेरे शत्रु हैं। उन्होंने मुझे पशु समझ रखा है जिसे फँसाने के पश्चात् हम पिंजरे में बन्द करके हिलाते हैं। उन्होंने मेरे मन को अपनी वाक्यमधुरता का क्रीड़ा-स्थल समझ लिया है। वे इस तरह घुमा-घुमाकर बातें करते हैं और मेरी तरफ़ से युक्तियाँ निकालकर उनका ऐसा उत्तर देते हैं कि ज़बान ही बन्द हो जाती है। हाय! निर्दयी ने मेरा जीवन नष्ट कर दिया और मुझे यों खेलाता है! क्या इसी लिए जीऊँ कि उसके कपट भावों का खिलौना बनूँ?

फिर वह कौन सी अभिलाषा है? क्या राजकुमार का प्रेम? उनकी तो अब कल्पना ही मेरे लिए घोर पाप है। मैं अब उस देवता के योग्य नहीं हूँ। प्रियतम! बहुत दिन हुए मैंने तुमको हृदय से निकाल दिया। तुम भी मुझे दिल से निकाल डालो। मृत्यु के सिवाय अब कहीं मेरा ठिकाना नहीं है। शङ्कर! मेरे निर्बल आत्मा को शक्ति प्रदान करो। मुझे कर्तव्य-पालन का बल दो।

प्रभा ने फिर कटार निकाली! इच्छा दृढ़ थी। हाथ उठा और निकट था

क कटार उसके शोकातुर हृदय में चुभ जाय कि इतने में किसी के पाँव की आहट सुनाई दी। उसने चौंककर सहमी हुई दृष्टि से देखा। मन्दार-कुमार धीरे-धीरे पैर दबाता हुआ कमरे में दाखिल हुआ।

८

प्रभा उसे देखते ही चौंक पड़ी। उसने कटार को छिपा लिया। राजकुमार को देखकर उसे आनन्द की जगह रोमाञ्चकारी भय उत्पन्न हुआ। यदि किसी को ज़रा भी सन्देह हो गया तो इनका प्राण बचना कठिन है। इनको तुरन्त यहाँ से निकल जाना चाहिए। यदि इन्हें बातें करने का अवसर दूँ तो विलम्ब होगा और फिर ये अवश्य ही फँस जायँगे। राणा इन्हें कदापि न छोड़ेंगे। ये विचार, वायु और बिजली की व्यग्रता के साथ, उसके मस्तिष्क में दौड़े। वह तीव्र स्वर से बोली—भीतर मत आओ।

राजकुमार ने पूछा—मुझे पहचाना नहीं?

प्रभा—ख़ूब पहिचान लिया, किन्तु यह बातें करने का समय नहीं है। राणा तुम्हारी घात में है। अभी यहाँ से चले जाओ।

राजकुमार ने एक पग और आगे बढ़ाया और निर्भीकता से कहा—प्रभा तुम मुझसे निष्ठुरता करती हो।

प्रभा ने धमकाकर कहा—तुम यहाँ ठहरोगे तो मैं शोर मचा दूँगी।

राजकुमार ने उद्दण्डता से उत्तर दिया—इसका मुझे भय नहीं। मैं अपनी जान हथेली पर रखकर आया हूँ। आज दोनों में से एक का अन्त हो जायगा। या तो राणा रहेंगे या मैं रहूँगा। तुम मेरे साथ चलोगी?

प्रभा ने दृढ़ता से कहा—नहीं।

राजकुमार व्यंगभाव से बोला—क्यों, क्या चित्तौड़ का जल-वायु पसन्द आ गया?

प्रभा ने राजकुमार की ओर तिरस्कृत नेत्रों से देखकर कहा—संसार में अपनी सब आशाएँ पूरी नहीं होतीं। जिस तरह यहाँ मैं अपनी जीवन काट रही हूँ, वह मैं ही जानती हूँ। किन्तु लोक-निन्दा भी तो कोई चीज़ है।

संसार की दृष्टि में चित्तौड़ की रानी हो चुकी। अब राणा जिस भाँति रक्खें उसी भाँति रहूँगी। मैं अन्त समय तक उनसे घृणा करूँगी, जलूँगी, कुढ़ूँगी। जब जलन न सही जायगी, विष खा लूँगी या छाती में कटार मारकर मर जाऊँगी। लेकिन इसी भवन में। इस घर से बाहर कदापि पैर न रखूँगी।

राजकुमार के मन में सन्देह हुआ कि प्रभा पर राणा का वशीकरण मन्त्र चला गया। यह मुझसे छल कर रही है। प्रेम की जगह ईर्षा पैदा हुई वह उस भाव से बोला—और यदि मैं यहाँ से उठा ले जाऊँ? प्रभा के तीवर बदल गये। बोली—मैं तो वही करूँगी जो ऐसी अवस्था में क्षत्राणियाँ किया करती हैं। या अपने गले में छुरी मार लूँगी, या तुम्हारे गले में।

राजकुमार एक पग और आगे बढ़ाकर यह कटु-वाक्य बोला। राणा के साथ तो तुम ख़ुशी से चली आईं। उस समय यह छुरी कहाँ गई थी?

प्रभा को यह शब्द शर-सा लगा। वह तिलमिलाकर बोली—उस समय इस छुरी के एक वार से खून की नदी बहने लगती। मैं नहीं चाहती थी कि मेरे कारण मेरे भाई-बन्धुओं की जान जाय। इसके सिवाय मैं कुँवारी थी। मुझे अपनी मर्यादा के भंग होने का कोई भय न था। मैंने पातिव्रत नहीं लिया। कम से कम संसार मुझे ऐसा समझता था। मैं अपनी दृष्टि में अब भी वही हूँ। किन्तु संसार की दृष्टि में कुछ और हो गई हूँ। लोक-लाज ने मुझे राणा की आज्ञाकारिणी बना दिया है। पातिव्रत की बेड़ी ज़बरदस्ती मेरे पैरों में डाल दी गई है। अब इसी की रक्षा करना मेरा धर्म है। इसके विपरीत और कुछ करना क्षत्राणियों के नाम को कलंकित करना है। तुम मेरे घाव पर व्यर्थ नमक क्यों छिड़कते हो? यह कौन-सी भल-मनसी है? मेरे भाग्य में जो कुछ बदा है वह भोग रही हूँ। मुझे भोगने दो और तुमसे विनती करती हूँ कि शीघ्र ही यहाँ से चले जाओ।

राजकुमार एक पग और बढ़ाकर दुष्ट भाव से बोला—प्रभा, यहाँ आकर तुम त्रियाचरित्र में निपुण हो गई। तुम मेरे साथ विश्वासघात करके अब धर्म की आड़ ले रही हो। तुमने मेरे प्रणय को पैरों तले कुचल दिया और

अब मर्यादा का बहाना ढूँढ़ रही हो। मैं इन नेत्रों से राणा को तुम्हारे सौन्दर्य-पुष्प का भ्रमर बनते नहीं देख सकता। मेरी कामनाएँ मिट्टी में मिलती हैं तो तुम्हें लेकर जायँगी। मेरा जीवन नष्ट होता है तो उसके पहले तुम्हारे जीवन का भी अन्त होगा। तुम्हारी बेवफ़ाई का यही दण्ड है। बोलो, क्या निश्चय करती हो? इस समय मेरे साथ चलती हो या नहीं? क़िले के बाहर मेरे आदमी खड़े हैं।

प्रभा ने निर्भयता से कहा—नहीं।

राजकुमार—सोच लो, नहीं तो पछताओगी।

प्रभा—ख़ूब सोच लिया है।

राजकुमार ने तलवार खींच ली और वह प्रभा की तरफ़ लपका। प्रभा भय से आँखें बन्द किये एक कदम पीछे हट गई। मालूम होता था उसे मूर्च्छा आ जायगी।

अकस्मात् राणा तलवार लिये वेग के साथ कमरे में दाख़िल हुए। राजकुमार सँभलकर खड़ा हो गया।

राणा ने सिंह के समान गरजकर कहा—दूर हट। क्षत्रिय स्त्रियों पर हाथ नहीं उठाते।

राजकुमार ने तनकर उत्तर दिया—लज्जाहीन स्त्रियों की यही सजा है।

राणा ने कहा—तुम्हारा वैरी तो मैं था। मेरे सामने आते क्यों लजाते थे? ज़रा मैं भी तुम्हारी तलवार की काट देखता।

राजकुमार ने ऐंठकर राणा पर तलवार चलाई। शस्त्र-विद्या में राणा अति कुशल थे। वार ख़ाली देकर राजकुमार पर झपटे। इतने में प्रभा जो मूर्च्छित अवस्था में दीवार से चिमटी खड़ी थी, बिजली की तरह कौंधकर राजकुमार के सामने खड़ी हो गई। राणा वार कर चुके थे। तलवार का पूरा हाथ उस के कन्धे पर पड़ा। रक्त की फुहार छूटने लगी। राणा ने एक ठण्डी साँस ली और उन्हों ने तलवार हाथ से फेंककर गिरती हुई प्रभा को सँभाल लिया।

क्षणमात्र में प्रभा का मुखमण्डल वर्ण-हीन हो गया। आँखें बुझ गईं।

दीपक ठण्डा हो गया। मन्दार-कुमार ने भी तलवार फेंक दी और वह आँखों में आँसू-भर प्रभा के सामने घुटने टेककर बैठ गया। दोनों प्रेमियों की आँखें सजल थीं। पतिंगे बुझे हुए दीपक पर जान दे रहे थे।

प्रेम के रहस्य निराले हैं। अभी एक क्षण हुए राजकुमार प्रभा पर तलवार लेकर झपटा था। प्रभा किसी प्रकार उस के साथ चलने पर उद्यत न होती थी। लज्जा का भय, धर्म की बेड़ी, कर्तव्य की दीवार, रास्ता रोके खड़ी थी परन्तु उसे तलवार के सामने देखकर उसने उस पर अपना प्राण अर्पण कर दिया। प्रीति की प्रथा निबाह दी। लेकिन अपने वचन के अनुसार इसी घर में

हाँ, प्रेम के रहस्य निराले हैं। अभी एक क्षण पहले राजकुमार प्रभा पर तलवार लेकर झपटा था। उसके ख़ून का प्यासा था। ईर्षा की अग्नि उसके हृदय में दहक रही थी। वह रुधिर की धारा से शान्त हो गई। कुछ देर तक वह अचेत बैठा रोता रहा। फिर उठा और उसने तलवार उठाकर ज़ोर से अपनी छाती में चुभा ली। फिर रक्त की फुहार निकली। दोनों धाराएँ मिल गईं और उनमें कोई भेद न रहा।

प्रभा उसके साथ चलने पर राज़ी न थी। किन्तु वह प्रेम के बन्धन को तोड़ न सकी। दोनों उस घर ही से नहीं, संसार से एक साथ सिधारे।

पाप का अग्निकुण्ड

१

कुँवर पृथ्वीसिंह महाराज यशवन्तसिंह के पुत्र थे। रूप, गुण और विद्या में प्रसिद्ध थे। ईरान, मिस्र, श्याम आदि देशों में परिभ्रमण कर चुके थे और कई भाषाओं के पण्डित समझे जाते थे। इनकी एक बहिन थी जिसका नाम राजनन्दिनी था। यह भी जैसी सुरूपवती और सर्वगुणसपन्ना थी; वैसी ही प्रसन्नवदना, मृदुभाषिणी भी थी। कड़वी बात कहकर किसी का जी दुखाना उसे पसन्द नहीं था। पाप को तो वह अपने पास भी नहीं फटकने देती थी। यहाँ तक कि कई बार महाराज यशवन्तसिह से भी वाद-विवाद कर चुकी थी और जब कभी उन्हें किसी बहाने कोई अनुचित काम करते देखती, तो उसे यथाशक्ति रोकने की चेष्टा करती। इसका ब्याह कुँवर धर्मसिंह से हुआ था। यह एक छोटी रियासत का अधिकारी और महाराज यशवन्त सिंह की सेना का उच्च पदाधिकारी था। धर्मसिंह बड़ा उदार और कर्मवीर था। इसे होनहार देखकर महाराज ने राजनन्दिनी को इसके साथ ब्याह दिया था और दोनों बड़े प्रेम से अपना वैवाहिक जीवन बिताते थे। धर्मसिंह अधिकतर जोधपुर में ही रहता था। पृथ्वीसिंह उसके गाढ़े मित्र थे। इनमें जैसी मित्रता थी, वैसी भाइयों में भी नहीं होती। जिस प्रकार इन दोनों राजकुमारों में मित्रता थी, उसी प्रकार दोनों राजकुमारियाँ भी एक दूसरी पर जान देती थीं। पृथ्वीसिंह की स्त्री दुर्गाकुँवरि बहुत सुशील और चतुरा थी। ननद भावज में अनबन होना लोक-रीति है, पर इन दोनों में इतना स्नेह था कि एक के बिना दूसरी को कभी कल नहीं पड़ता था। दोनों स्त्रियाँ संस्कृत से प्रेम रखती थीं।

एक दिन दोनों राजकुमारियाँ बाग की सैर में मग्न थीं कि एक दासी ने

राजनन्दिनी के हाथ में एक काग़ज़ लाकर रख दिया। राजनन्दिनी ने उसे खोला तो वह संस्कृत का एक पत्र था। उसे पढ़कर उसने दासी से कहा कि उन्हें भेज दे। थोड़ी देर में एक स्त्री सिर से पैर तक एक चादर ओढ़े आती दिखाई दी। इसकी उम्र २५ साल से अधिक न थी, पर रंग पीला था। आँखें बड़ी और ओठ सूखे। चाल-ढाल में कोमलता थी और उसके डील-डौल का गठन बहुत ही मनोहर था। अनुमान से जान पड़ता था कि समय ने इसकी यह दशा कर रखी है पर एक समय वह भी होगा जब यह बड़ी सुन्दर होगी। इस स्त्री ने आकर चौखट चूमी और आशीर्वाद देकर फ़र्श पर बैठ गई। राजनन्दिनी ने इसे सिर से पैर तक बड़े ध्यान से देखा और पूछा, " तुम्हारा नाम क्या है ? "

उसने उत्तर दिया, " मुझे व्रजविलासिनी कहते हैं। "

" कहाँ रहती हो ? "

" यहाँ से तीन दिन की राह पर एक गाँव विक्रमनगर है, वहाँ मेरा घर है। "

" संस्कृत कहाँ पढ़ी है ? "

" मेरे पिताजी संस्कृत के बड़े पण्डित थे, उन्हीं ने थोड़ी-बहुत पढ़ा दी है। "

" तुम्हारा ब्याह तो हो गया है न ? "

ब्याह का नाम सुनते ही व्रजविलासिनी की आँखों से आँसू बहने लगे। वह आवाज़ सम्हालकर बोली—इसका जवाब मैं फिर कभी दूँगी ; मेरी रामकहानी बड़ी दुःखमय है। उसे सुनकर आपको दुःख होगा, इसलिए इस समय क्षमा कीजिए।

आज से व्रजविलासिनी वहीं रहने लगी। संस्कृत-साहित्य में उसका बहुत प्रवेश था। वह राजकुमारियों को प्रतिदिन रोचक कविता पढ़कर सुनाती थी। उसके रंग, रूप और विद्या ने धीरे धीरे राजकुमारियों के मन में उसके प्रति प्रेम और प्रतिष्ठा उत्पन्न कर दी। यहाँ तक कि राजकुमारियों और व्रजविलासिनी के बीच बड़ाई-छुटाई उठ गई और वे सहेलियों की भाँति रहने लगीं।

२

कई महीने बीत गये। कुँवर पृथ्वीसिंह और धर्म्मसिंह दोनों महाराज के साथ अफगानिस्तान की मुहीम पर गये हुए थे। यह विरह की घड़ियाँ मेघदूत और रघुवंश के पढ़ने में कटीं। व्रजविलासिनी को कालिदास की कविता से बहुत प्रेम था और वह उनके काव्यों की व्याख्या ऐसी उत्तमता से करती और उसमें ऐसी बारीकियाँ निकालती कि दोनों राजकुमारियाँ मुग्ध हो जातीं।

एक दिन संध्या का समय था, दोनों राजकुमारियाँ फुलवाड़ी में सैर करने गईं, तो देखा कि व्रजविलासिनी हरी हरी घास पर लेटी हुई है और उसकी आँखों से आँसू बह रहे हैं। राजकुमारियों के अच्छे बर्ताव और स्नेहपूर्ण बातचीत से उसकी सुन्दरता कुछ चमक गई थी। इनके साथ अब वह भी राजकुमारी जान पड़ती थी। पर इन सब बातों के रहते भी वह बेचारी बहुधा एकान्त में बैठकर रोया करती। उसके दिल पर एक ऐसी चोट थी कि वह उसे दम-भर भी चैन नहीं लेने देती थी। राजकुमारियाँ उस समय उसे रोते देखकर बड़ी सहानुभूति के साथ उसके पास बैठ गईं। राजनन्दिनी ने उसका सिर अपनी जाँघ पर रख लिया और उसके गुलाब से गालों को थपथपाकर कहा—सखी, तुम अपने दिल का हाल हमें न बताओगी? क्या अब भी हम गैर हैं? तुम्हारा यों अकेले दुःख की आग में जलना हमसे नहीं देखा जाता। व्रजविलासिनी आवाज़ सम्हालकर बोली—बहिन, मैं अभागिनी हूँ। मेरा हाल मत सुनो।

राज०—अगर बुरा न मानो तो एक बात पूछूँ।

व्रज०—क्या, कहो।

राज०—वही जो मैंने पहले दिन पूछा था। तुम्हारा ब्याह हुआ है कि नहीं?

व्रज०—इसका जवाब मैं क्या दूँ? अभी नहीं हुआ।

राज०—क्या किसी का प्रेम का बाण हृदय में चुभा हुआ है?

व्रज०—नहीं बहिन, ईश्वर जानता है।

राज०—तो इतनी उदास क्यों रहती हो ? क्या प्रेम का आनन्द उठाने को जी चाहता है ?

व्रज०—नहीं, दुःख के सिवा मन में प्रेम को स्थान ही नहीं।

राज०—हम प्रेम का स्थान पैदा कर देंगी।

व्रजविलासिनी इशारा समझ गई और बोली—बहिन, इन बातों की चर्चा न करो।

राज०—मैं अब तुम्हारा ब्याह रचाऊँगी ? दीवान जयचन्द को तुमने देखा है ?

व्रजविलासिनी आँसू भरकर बोली—राजकुमारी, मैं व्रतधारिणी हूँ और अपने व्रत को पूरा करना ही मेरे जीवन का उद्देश्य है। प्रण को निभाने के लिए मैं जीती हूँ, नहीं तो मैंने ऐसी आफ़तें झेली हैं कि जीने की इच्छा अब नहीं रही। मेरे बाप विक्रमनगर के जागीरदार थे। मेरे सिवा उनके कोई संतान न थी। वे मुझे प्राणों से अधिक प्यार करते थे। मेरे ही लिए उन्होंने बरसों संस्कृत-साहित्य पढ़ा था। युद्ध-विद्या में वे बड़े निपुण थे और कई बार लड़ाइयों पर गये थे।

"एक दिन गोधूलि-वेला में सब गायें जंगल से लौट रही थीं। मैं अपने द्वार पर खड़ी थी। इतने में एक जवान बाँकी पगड़ी बाँधे, हथियार सजाये, झूमता आता दिखाई दिया। मेरी प्यारी मोहनी इस समय जंगल से लौटी थी, और उसका बच्चा इधर कलोलें कर रहा था। संयोगवश बच्चा उस नवजवान से टकरा गया। गाय उस आदमी पर झपटी। राजपूत बड़ा साहसी था। उसने शायद सोचा कि शायद भागता हूँ तो कलङ्क का टीका लगता है, तुरन्त तलवार म्यान से खींच ली और वह गाय पर झपटा। गाय झल्लाई हुई तो थी ही, कुछ भी न डरी। मेरी आँखों के सामने उस राजपूत ने उस प्यारी गाय को जान से मार डाला। देखते देखते सैकड़ों आदमी जमा हो गये और उसको टेढ़ी-सीधी सुनाने लगे। इतने में पिताजी भी आ गये। वे सन्ध्या करने गये थे। उन्होंने आकर देखा कि द्वार पर सैकड़ों आदमियों की भीड़

लगी है, गाय तड़प रही है और उसका बच्चा खड़ा रो रहा है। पिताजी की आहट सुनते ही गाय कराहने लगी और उनकी ओर उसने कुछ ऐसी दृष्टि से देखा कि उन्हें क्रोध आ गया। मेरे बाद उन्हें यह गाय ही प्यारी थी। वे ललकारकर बोले—मेरी गाय किसने मारी है? नवजवान लज्जा से सिर झुकाये सामने आया और बोला—मैंने।

पिताजी—तुम क्षत्रिय हो?

राजपूत—हाँ।

पिताजी—तो किसी क्षत्रिय से हाथ मिलाते?

राजपूत का चेहरा तमतमा गया। बोला—कोई क्षत्रिय सामने आ जाय। हज़ारों आदमी खड़े थे, पर किसी का साहस न हुआ कि उस राजपूत का सामना करे। यह देखकर पिताजी ने तलवार खींच ली और वे उस पर टूट पड़े। उसने भी तलवार निकाल ली और दोनों आदमियों में तलवारें चलने लगीं। पिताजी बूढ़े थे; सीने पर ज़ख्म गहरा लगा। गिर पड़े। उन्हें उठाकर लोग घर पर लाये। उनका चेहरा पीला था, पर उनकी आँखों से चिनगारियाँ निकल रही थीं। मैं रोती हुई उनके सामने आई। मुझे देखते ही उन्होंने सब आदमियों को वहाँ से हट जाने का सङ्केत किया। जब मैं और पिताजी अकेले रह गये, तो बोले—बेटी, तुम राजपूतानी हो?

मैं—जी हाँ।

पिताजी—राजपूत बात के धनी होते हैं?

मैं—जी हाँ।

पिताजी—इस राजपूत ने मेरी गाय की जान ली है, इसका बदला तुम्हें लेना होगा।

मैं—आपकी आज्ञा का पालन करूँगी।

पिताजी—अगर मेरा बेटा जीता होता तो मैं यह बोझा तुम्हारी गर्दन पर न रखता।

"आपकी जो कुछ आज्ञा होगी, मैं सिर-आँखों से पूरी करूँगी।"

पिताजी—तुम प्रतिज्ञा करती हो ?

मैं—जी हाँ।

पिताजी—इस प्रतिज्ञा को पूरा कर दिखाओगी ?

मैं—जहाँ तक मेरा वश चलेगा मैं निश्चय यह प्रतिज्ञा पूरी करूँगी।

पिताजी—यह मेरी तलवार लो। जब तक तुम यह तलवार उस राजपूत के कलेजे में न भोंक दो, तब तक भोग-विलास न करना।

"यह कहते कहते पिताजी के प्राण निकल गये। मैं उसी दिन से तलवार को कपड़ों में छिपाये उस नौजवान राजपूत की तलाश में घूमने लगी। वर्षों बीत गये। मैं कभी बस्तियों में जाती, कभी पहाड़ों जंगलों की ख़ाक छानती, पर उस नौजवान का कहीं पता न मिलता। एक दिन मैं बैठी हुई अपने फूटे भाग पर रो रही थी कि वही नौजवान आदमी आता हुआ दिखाई दिया। मुझे देखकर उसने पूछा, तू कौन है ? मैंने कहा, मैं दुखिया ब्राह्मणी हूँ, आप मुझपर दया कीजिए और मुझे कुछ खाने को दीजिए। राजपूत ने कहा, अच्छा मेरे साथ आ।

"मैं उठ खड़ी हुई। वह आदमी बेसुध था। मैंने बिजली की तरह लपककर कपड़ों में से तलवार निकाली और उसके सीने में भोंक दी। इतने में कई आदमी आते दिखाई पड़े। मैं तलवार छोड़कर भागी। तीन वर्ष तक पहाड़ों और जंगलों में छिपी रही। बार बार जी में आया कि कहीं डूब मरूँ, पर जान बड़ी प्यारी होती है। न जाने क्या क्या मुसीबतें और कठिनाइयाँ भोगनी हैं जिनको भोगने को अभी तक जीती हूँ। अन्त में जब जंगल में रहते रहते जी उकता गया, तो जोधपुर चली आई। यहाँ आपकी दयालुता की चर्चा सुनी। आपकी सेवा में आ पहुँची और तब से आपकी कृपा से मैं आराम से जीवन बिता रही हूँ। यही मेरी रामकहानी है।"

राजनन्दिनी ने लम्बी साँस लेकर कहा, दुनिया में कैसे कैसे लोग भरे हुए हैं। ख़ैर तुम्हारी तलवार ने उसका काम तो तमाम कर दिया ?

व्रजविलासिनी—कहाँ बहिन ! वह बच गया, जखम ओछा पड़ा था।

उसी शकल के एक नौजवान राजपूत को मैंने जंगल में शिकार खेलते देखा था। नहीं मालूम, वही था या और कोई, शकल बिलकुल मिलती थी।

२

कई महीने बीत गये। राजकुमारियों ने जब से व्रजविलासिनी की राम-कहानी सुनी है, उसके साथ वे और भी प्रेम और सहानुभूति का बर्ताव करने लगी हैं। पहले बिना संकोच कभी-कभी छेड़छाड़ हो जाती थी; पर अब दोनों हरदम उसका दिल बहलाया करती हैं। एक दिन बादल घिरे हुए थे; राजनन्दिनी ने कहा—आज बिहारीलाल की 'सतसई' सुनने को जी चाहता है। वर्षा ऋतु पर उसमें बहुत अच्छे दोहे हैं।

दुर्गाकुँवरि—बड़ी अनमोल पुस्तक है। सखी, तुम्हारी बगल में जो आलमारी रखी है, उसी में वह पुस्तक है, जरा निकालना। व्रजविलासिनी ने पुस्तक उतारी, और उसका पहला ही पृष्ठ खोला था कि उसके हाथ से पुस्तक छूटकर गिर पड़ी। उसके पहले पृष्ठ पर एक तसवीर लगी हुई थी। वह उसी निर्दय युवक की तसवीर थी जो उसके बाप का हत्यारा था। व्रज-विलासिनी की आँखें लाल हो गईं। त्योरी पर बल पड़ गये। अपनी प्रतिज्ञा याद आ गई। पर उसके साथ ही यह विचार उत्पन्न हुआ कि इस आदमी का चित्र यहाँ कैसे आया और इसका इन राजकुमारियों से क्या सम्बन्ध है। कहीं ऐसा न हो कि मुझे इनका कृतज्ञ होकर अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़े। राजनन्दिनी ने उसकी सूरत देखकर कहा—सखी क्या बात है? यह क्रोध क्यों? व्रजविलासिनी ने सावधानी से कहा—कुछ नहीं, न जाने क्यों चक्कर आ गया था।

आज से व्रजविलासिनी के मन में एक और चिन्ता उत्पन्न हुई।—क्या मुझे राजकुमारियों का कृतज्ञ होकर अपना प्रण तोड़ना पड़ेगा?

पूरे सोलह महीने के बाद अफ़ग़ानिस्तान से पृथ्वीसिंह और धर्मसिंह लौटे। बादशाह की सेना को बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। बर्फ़ अधिकता से पड़ने लगी। पहाड़ों के दर्रे बर्फ़ से ढक गये। आने-जाने के

रास्ते बन्द हो गये। रसद के सामान कम मिलने लगे। सिपाही भूखों मरने लगे। कब अफ़गानों ने समय पाकर रात को छापे मारने शुरू किये। आख़िर शाहज़ादे मुहीउद्दीन को हिम्मत हारकर लौटना पड़ा।

दोनों राजकुमार ज्यों-ज्यों जोधपुर के निकट पहुँचते थे, उत्कण्ठा से उनके मन उमड़े आते थे। इतने दिनों के वियोग के बाद फिर भेंट होगी। मिलने की तृष्णा बढ़ती जाती है। रातदिन मञ्जिलें काटते चले आते हैं, न थकावट मालूम होती है, न माँदगी। दोनों घायल हो रहे हैं, पर फिर भी मिलने की ख़ुशी में जख़मों की तक़लीफ़ भूले हुए हैं। पृथ्वीसिंह दुर्गाकुँवरि के लिए एक अफ़गानी कटार लाये हैं। धर्मसिंह ने राजनन्दिनी के लिए काश्मीर का एक बहुमूल्य शाल जोड़ मोल लिया है। दोनों के दिल उमंग से भरे हुए हैं।

राजकुमारियों ने जब सुना कि दोनों वीर वापस आते हैं, तो वे फूले अंगों न समाईं। शृङ्गार किया जाने लगा, माँगें मोतियों से भरी जाने लगीं, उनके चेहरे ख़ुशी से दमकने लगे। इतने दिनों के विछोह के बाद फिर मिलाप होगा, ख़ुशी आँखों से उबली पड़ती हैं। एक दूसरे को छोड़ती हैं और ख़ुश होकर गले मिलती हैं।

अगहन का महीना था, बरगद की डालियों में मूँगे के दाने लगे हुए थे। जोधपुर के क़िले से सलामियों की घनगर्ज आवाज़ें आने लगीं। सा नगर में धूम मच गई कि कुँवर पृथ्वीसिंह सकुशल अफ़गानिस्तान से लौट आये। दोनों राजकुमारियाँ थाली में आरती के सामान लिये दरवाज़े पर खड़ी थीं। पृथ्वीसिंह दरबारियों के मुजरे लेते हुए महल में आये। दुर्गाकुँवरि ने आरती उतारी और दोनों एक दूसरे को देखकर ख़ुश हो गये। धर्मसिंह भी प्रसन्नता से ऐंठते हुए अपने महल में पहुँचे, पर भीतर पैर रखने भी न पाये थे कि छींक हुई, और बाईं आँख फड़कने लगी। राजनन्दिनी आरती का थाल लेकर लपकी, पर उसका पैर फिसल गया और थाल हाथ से छूटकर गिर पड़ा। धर्मसिंह का माथा ठनका और राजनन्दिनी का चेहरा पीला हो गया। यह असगुन क्यों?

ब्रजविलासिनी ने दोनों राजकुमारों के आने का समाचार सुनकर उन दोनों को देने के लिए दो अभिनन्दन-पत्र बना रखे थे। सबेरे जब कुँवर पृथ्वीसिंह ने सन्ध्या आदि नित्य-क्रिया से निपटकर बैठे, तो वह उनके सामने आई और उसने एक सुन्दर कुश की चँगेली में अभिनन्दन पत्र रख दिया। पृथ्वीसिंह ने उसे प्रसन्नता से ले लिया। कविता यद्यपि उतनी बढ़िया न थी, पर वह नई और वीरता से भरी हुई थी। वे वीररस के रसी थे, उसको पढ़कर बहुत ख़ुश हुए और उन्होंने मोतियों का हार उपहार दिया।

ब्रजविलासिनी यहाँ से छुट्टी पाकर कुँवर धर्मसिंह के पास पहुँची। वे बैठे हुए राजनन्दिनी को लड़ाई की घटनाएँ सुना रहे थे, पर ज्यों ही ब्रजविलासिनी की आँख उन पर पड़ी, वह सन्न होकर पीछे हट गई। उसको देखकर धर्मसिंह के चेहरे का भी रंग उड़ गया, होंठ सूख गये और हाथ-पैर सनसनाने लगे। ब्रजविलासिनी तो उलटे पाँव लौटी; पर धर्मसिंह चारपाई पर लेटकर दोनों हाथों से मुँह ढँक लिया। राजनन्दिनी ने यह दृश्य देखा और उसका फूल-सा बदन पसीने से तर हो गया। धर्मसिंह सारे दिन पलंग पर चुपचाप पड़े करवटें बदलते रहे। उनका चेहरा ऐसा कुम्हला गया जैसे वे बरसों के रोगी हों। राजनन्दिनी उनकी सेवा में लगी हुई थी। दिन तो यों कटा, रात को कुँवर साहब सन्ध्या ही से थकावट का बहाना करके लेट गये। राजनन्दिनी हैरान थी कि माजरा क्या है। ब्रजविलासिनी इन्हीं के ख़ून की प्यासी है? क्या यह सम्भव है कि मेरा प्यारा, मेरा मुकुट धर्मसिंह ऐसा कठोर हो? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। वह यद्यपि चाहती है कि अपने भावों से उनके मन का बोझ हलका करे, पर नहीं कर सकती। अन्त को नींद ने उसको अपनी गोद में ले लिया।

४

रात बहुत बीत गई है। आकाश में अँधेरा छा गया है। सारस की दुःख से भरी बोली कभी-कभी सुनाई दे जाती है और रह-रहकर क़िले के सन्तरियों की आवाज़ कान में आ पड़ती है। राजनन्दिनी की आँख एकाएक

खुली, तो उसने धर्मसिंह को पलंग पर न पाया। चिन्ता हुई, वह झट उठकर व्रजविलासिनी के कमरे की ओर चली और दरवाज़े पर खड़ी होकर भीतर की ओर देखने लगी। संदेह पूरा हो गया। क्या देखती है कि व्रज-विलासिनी हाथ में तेगा लिये खड़ी है और धर्मसिंह दोनों हाथ जोड़े उसके सामने दीनों की तरह घुटने टेके बैठे हैं। यह दृश्य देखते ही राजनन्दिनी का ख़ून सूख गया और उसके सिर में चक्कर आने लगा, पैर लड़खड़ाने लगे। जान पड़ता था कि गिरी जाती है। वह अपने कमरे में आई और मुँह ढँककर लेट रही, पर उसकी आँखों से एक बूँद भी न निकली।

दूसरे दिन पृथ्वीसिंह बहुत सबेरे ही कुँवर धर्मसिंह के पास गये और मुस्कराकर बोले—भैया, मौसिम बड़ा सुहावना है, शिकार खेलने चलते हो?

धर्मसिंह—हाँ, चलो।

दोनों राजकुमारों ने घोड़े कसवाये और जंगल की ओर चल दिये। पृथ्वी-सिंह का चेहरा खिला हुआ था, जैसे कमल का फूल। एक-एक अंग से तेज़ी और चुस्ती टपकी पड़ती थी। पर कुँवर धर्मसिंह का चेहरा मैला हो गया था, मानो बदन में जान ही नहीं है। पृथ्वीसिंह ने उन्हें कई बार छेड़ा, पर जब देखा कि वे बहुत दुखी हैं, तो चुप हो गये। चलते-चलते दोनों आदमी झील के किनारे पर पहुँचे। एकाएक धर्मसिंह ठिठके और बोले—मैंने आज रात को एक दृढ़ प्रतिज्ञा की है। यह कहते-कहते उनकी आँखों में पानी आ गया। पृथ्वीसिंह ने घबड़ाकर पूछा—कैसी प्रतिज्ञा?

तुमने व्रजविलासिनी का हाल सुना है? मैंने प्रतिज्ञा की है कि जिस आदमी ने उसके बाप को मारा है, उसे भी जहन्नुम पहुँचा दूँ।

'तुमने सचमुच वीर प्रतिज्ञा की है।'

'हाँ, यदि मैं पूरी कर सकूँ। तुम्हारे विचार में ऐसा आदमी मारने योग्य है या नहीं!'

'ऐसे निर्दयी की गर्दन गुठल छुरी से काटनी चाहिए।'

'बेशक, यही मेरा भी विचार है। यदि मैं किसी कारण यह काम न कर सकूँ तो तुम मेरी प्रतिज्ञा पूरी कर दोगे?'

'बड़ी खुशी से। उसे पहचानते हो न ?'

'हाँ, अच्छी तरह।'

'तो अच्छा होगा, यह काम मुझको ही करने दो, तुम्हें शायद उस पर दया आ जाय।'

'बहुत अच्छा। पर यह याद रखो कि वह आदमी बड़ा भाग्यशाली है! कई बार मौत के मुँह से बचकर निकला है। क्या आश्चर्य है कि तुमको भी उस पर दया आ जाय। इसलिए तुम प्रतिज्ञा करो कि उसे ज़रूर जहन्नुम पहुँचाओगे।'

'मैं दुर्गा की शपथ खाकर कहता हूँ कि उस आदमी को अवश्य मारूँगा।'

'बस, तो हम दोनों मिलकर कार्य सिद्ध कर लेंगे। तुम अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहोगे न ?'

" क्यों ? क्या मैं सिपाही नहीं हूँ ? एक बार जो प्रतिज्ञा की, समझ लो कि वह पूरी करूँगा, चाहे इसमें अपनी जान ही क्यों न चली जाय। "

" सब अवस्थाओं में। "

" हाँ, सब अवस्थाओं में। "

" यदि वह तुम्हारा कोई बन्धु हो तो ? "

पृथ्वीसिंह ने धर्मसिंह को विचारपूर्वक देखकर कहा—कोई बंधु हो तो ?—

धर्मसिंह—हाँ, सम्भव है कि तुम्हारा कोई नातेदार हो।

पृथ्वीसिंह ने—(जोश में) कोई हो, यदि मेरा भाई भी हो, तो भी जीता चुनवा दूँ।

धर्मसिंह घोड़े से उतर पड़े। उनका चेहरा उतरा हुआ था और ओठ काँप रहे थे। उन्होंने कमर से तेगा खोलकर ज़मीन पर रख दिया और पृथ्वीसिंह को ललकारकर कहा—पृथ्वीसिंह तैयार हो जाओ। वह दुष्ट मिल गया। पृथ्वीसिंह ने, चौंककर इधर उधर देखा तो धर्मसिंह के सिवाय और कोई दिखाई न दिया।

धर्मसिंह—तेगा खींचो।

पृथ्वीसिंह—मैंने उसे नहीं देखा।

धर्मसिंह—वह तुम्हारे सामने खड़ा है। वह दुष्ट कुकर्मी धर्मसिंह ही है।

पृथ्वीसिंह—(घबराकर) ऐं तुम !—मैं—

धर्मसिंह—राजपूत, अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो।

इतना सुनते ही पृथ्वीसिंह ने बिजली की तरह कमर से तेगा खींच लिया और उसे धर्मसिंह के सीने में चुभा दिया। मूठ तक तेगा चुभ गया। ख़ून का फव्वारा बह निकला। धर्मसिंह ज़मीन पर गिरकर धीरे से बोले—पृथ्वीसिंह, मैं तुम्हारा बहुत कृतज्ञ हूँ। तुम सच्चे वीर हो। तुमने पुरुष का कर्तव्य पुरुष की भाँति पालन किया।

पृथ्वीसिंह यह सुनकर ज़मीन पर बैठ गये और रोने लगे।

५

आज राजनन्दिनी सती होने जा रही है। उसने सोलहों शृङ्गार किये हैं और माँग मोतियों से भरवाई है। कलाई में सोहाग का कंगन है, पैरों में महावर लगाया है और लाल चुनरी ओढ़ी है। उसके अंग से सुगन्धि उड़ रही है, क्योंकि वह आज सती होने जाती है।

राजनन्दिनी का चेहरा सूर्य की भाँति प्रकाशमान है। उसकी ओर देखने से आँखों में चकाचौंध लग जाती है। प्रेम-मद से उसका रोंया रोंया मस्त हो गया है, उसकी आँखों से अलौकिक प्रकाश निकल रहा है। वह आज स्वर्ग की देवी जान पड़ती है। उसकी चाल बड़ी मदमाती है। वह अपने प्यारे पति का सिर अपनी गोद में लेती है, और उस चिता में बैठ जाती है जो चन्दन, खस आदि से बनाई गई है।

सारे नगर के लोग यह दृश्य देखने के लिए उमड़े चले आते हैं। बाजे बज रहे हैं, फूलों की वृष्टि हो रही है। सती चिता में बैठ चुकी थी कि इतने में कुँवर पृथ्वीसिंह आये और हाथ जोड़कर बोले—महारानी, मेरा अपराध क्षमा करो।

सती ने उत्तर दिया—क्षमा नहीं हो सकता। तुमने एक नौजवान राजपूत की जान ली है, तुम भी जवानी में मारे जाओगे।

सती के वचन कभी झूठे हुए हैं ? एकाएक चिता में आग लग गई। जयजयकार के शब्द गूँजने लगे। सती का मुख आग में यों चमकता था, जैसे सवेरे की ललाई में सूर्य चमकता है। थोड़ी देर में वहाँ राख के ढेर के सिवा और कुछ न रहा।

इस सती के मन में कैसा सत था ! परसों जब उसने व्रजविलासिनी को झिझककर धर्मसिंह के सामने जाते देखा था, उसी समय से उसके दिल में संदेह हो गया था। पर जब रात को उसने देखा कि मेरा पति इसी स्त्री के सामने दुखिया की तरह बैठा हुआ है, तब वह सन्देह निश्चय की सीमा तक पहुँच गया और यही निश्चय अपने साथ सत लेता आया था। सबेरे जब धर्म्मसिंह उठे तब राजनन्दिनी ने कहा था कि मैं व्रजविलासिनी के शत्रु का सिर चाहती हूँ, तुम्हें लाना होगा और ऐसा ही हुआ। अपने सती होने के सब कारण राजनन्दिनी ने जान-बूझकर पैदा किये थे, क्योंकि उसके मन में सत था। पाप की आग कैसी तेज होती है ? एक पाप ने कितनी जानें लीं ? राजवंश के दो कुमार और दो कुमारियाँ देखते देखते इस अग्निकुण्ड में स्वाहा हो गईं। सती का वचन सच हुआ। सात ही सप्ताह के भीतर पृथ्वीसिंह देहली में कत्ल किये गये और दुर्गाकुमारी सती हो गई।

जुगनू की चमक

पंजाब के सिंह राजा रणजीतसिंह संसार से चल चुके थे और राज्य से वे प्रतिष्ठित पुरुष जिनके द्वारा उसका उत्तम प्रबन्ध चल रहा था, परस्पर के द्वेष सौर अनबन के कारण मर मिटे थे। राजा रणजीतसिंह का बनाया हुआ सुन्दर किन्तु खोखला भवन अब नष्ट हो चुका था। कुँवर दिलीपसिंह अब इंग्लेंड में थे और रानी चन्द्रकुँवरि चुनार के दुर्ग में। रानी चन्द्रकुँवरि ने विनष्ट होते हुए राज्य को बहुत सँभालना चाहा, किन्तु शासन प्रणाली न जानती थी और कूट-नीति ईर्षा की आग भड़काने के सिवा और क्या करती?

रात के बारह बज चुके थे। रानी चन्द्रकुँवरि अपने निवास-भवन के ऊपर छत पर खड़ी गङ्गा की ओर देख रही थी और सोचती थी—लहरें क्यों इस प्रकार स्वतन्त्र हैं? उन्होंने कितने गाँव और नगर डुबाये हैं, कितने जीव-जन्तु तथा द्रव्य निगल गई हैं; किन्तु फिर भी वे स्वतन्त्र हैं। कोई उन्हें बन्द नहीं करता। इसी लिए न कि वे बन्द नहीं रह सकतीं? वे गरजेंगी, बल खायेंगी—और बाँध के ऊपर चढ़कर उसे नष्ट कर देंगी, अपने ज़ोर से उसे बहा ले जावेंगी।

यह सोचते-विचारते रानी गादी पर लेट गई। उसकी आँखों के सामने पूर्वावस्था की स्मृतियाँ मनोहर स्वप्न की भाँति आने लगीं। कभी उसकी भौंह की मरोड़ तलवार से भी अधिक तीव्र थी और उसकी मुसकराहट वसन्त की सुगन्धित समीर से भी अधिक प्राणपोषक; किन्तु हाय अब इनकी शक्ति हीनावस्था को पहुँच गई। रोवें तो अपने को सुनाने के लिए, हँसे तो अपने को बहलाने के लिए। यदि यदि बिगड़े तो किसी का बिगाड़ सकती है और प्रसन्न हो तो किसी का क्या बना सकती है? रानी और बाँदी में कितना अन्तर है? रानी की आँखों से आँसू की बूँदें झरने लगीं, जो कभी विष से

अधिक प्राण-नाशक और अमृत से अधिक अनमोल थीं। वह इसी भाँति अकेली, निराश, कितनी बार रोई, जब कि आकाश के तारों के सिवा और कोई देखनेवाला न था।

२

इसी प्रकार रोते-रोते रानी की आँखें लग गईं। उसका प्यारा, कलेजे का टुकड़ा कुँवर दिलीपसिंह, जिसमें उसके प्राण बसते थे, उदास मुख आकर खड़ा हो गया। जैसे गाय दिन-भर जगलों में रहने के पश्चात् सन्ध्या को घर आती है और अपने बछड़े को देखते ही प्रेम और उमंग से मतवाली होकर, स्तनों में दूध भरे, पूँछ उठाये, दौड़ती है, उसी भाँति चन्द्रकुँवरि अपने दोनों हाथ फैलाये अपने प्यारे कुँवर को छाती से लपटाने के लिए दौड़ी। परन्तु आँखें खुल गईं और जीवन की आशाओं की भाँति वह स्वप्न भी विनष्ट हो गया। रानी ने गंगा की ओर देखा, और कहा—मुझे भी अपने साथ लेती चलो। इसके बाद रानी तुरन्त छत से उतरी। कमरे में एक लालटेन जल रही थी। उसके उजेले में उसने एक मैली साड़ी पहनी, गहने उतार दिये, रत्नों के एक छोटे से बक्स को और एक तीव्र कटार को कमर में रखा। जिस समय वह बाहर निकली, नैराश्यपूर्ण साहस की मूर्ति थी।

सन्तरी ने पुकारा। रानी ने उत्तर दिया—मैं हूँ झंगी।

'कहाँ जाती है?'

'गंगाजल लाऊँगी। सुराही टूट गई है, रानीजी पानी माँग रही हैं।'

सन्तरी कुछ समीप आकर बोला—चल, मैं भी तेरे साथ चलता हूँ, जरा रुक जा।

झंगी बोली—मेरे साथ मत आओ। रानी कोठे पर हैं। देख लेंगी।

सन्तरी को धोखा देकर चन्द्रकुँवरि गुप्त द्वार से होती हुई अन्धेरे में काँटों से उलझती, चट्टानों से टकराती, गंगा के किनारे जा पहुँची।

रात आधी से अधिक जा चुकी थी। गंगाजी में संतोषप्रदायिनी शान्ति विराज रही थी। तरंगें तारों को गोद में लिये सो रही थीं। चारों ओर सन्नाटा था।

रानी नदी के किनारे-किनारे चली जाती थी और मुड़-मुड़कर पीछे देखती थी। एनाएक एक डोंगी खूँटे से बँधी हुई देख पड़ी। रानी ने उसे ध्यान से देखा तो मल्लाह सोया हुआ था। उसे जगाना, काल को जगाना था। वह तुरन्त रस्सी खोलकर नाव पर सवार हो गई। नाव धीरे-धीरे धार के सहारे चलने लगी, शोक और अन्धकार-मय स्वप्न की भाँति, जो ध्यान की तरंगों के साथ बहा चला जाता हो। नाव के हिलने से मल्लाह चौंककर उठ बैठा। आँखें मलते-मलते उसने सामने देखा तो पटरे पर एक स्त्री हाथ में डाँड़ लिये बैठी है। घबराकर पूछा—तै कौन है रे? नाव कहाँ लिये जात है? रानी हँस पड़ी। भय के अन्त को साहस कहते हैं। बोली—सच बताऊँ या झूठ?

मल्लाह कुछ भयभीत-सा होकर बोला—सच बताया जाय।

रानी बोली—अच्छा तो सुन। मैं लाहौर की रानी चंद्रकुँवरि हूँ। इसी किले में कैदी थी। आज भागी जाती हूँ। मुझे जल्दी बनारस पहुँचा दे। तुझे निहाल कर दूँगी और यदि शरारत करेगा तो देख, इस कटार से सिर काट दूँगी। सवेरा होने से पहले मुझे बनारस पहुँचना चाहिए।

यह धमकी काम कर गई। मल्लाह ने विनीत भाव से अपना कम्बल बिछा दिया और तेज़ी से डाँड़ चलाने लगा। किनारे के वृक्ष और ऊपर जगमगाते हुए तारे साथ साथ दौड़ने लगे।

३

प्रातःकाल चुनार के दुर्ग में प्रत्येक मनुष्य अचम्भित और व्याकुल था। सन्तरी, चौकीदार और लौंडियाँ सब सिर नीचे किये दुर्ग के स्वामी के सामने उपस्थित थे। अन्वेषण हो रहा था; परन्तु कुछ पता न चलता था।

उधर रानी बनारस पहुँची। परन्तु वहाँ पहले से ही पुलिस और सेना का जाल बिछा हुआ था। नगर के नाके बन्द थे। रानी का पता लगानेवाले के लिए एक बहुमूल्य पारितोषिक की सूचना दी गई थी।

बन्दीगृह से निकलकर रानी को ज्ञात हो गया कि वह और दृढ़ कारागार में है। दुर्ग में प्रत्येक मनुष्य उसका आज्ञाकारी था। दुर्ग का स्वामी भी

उसे सम्मान की दृष्टि से देखता था। किन्तु आज स्वतन्त्र होकर भी उसके ओठ बन्द थे। उसे सभी स्थानों में शत्रु देख पड़ते थे। पंखरहित पक्षी को पिंजरे के कोने में ही सुख है।

पुलिस के अफसर प्रत्येक आने-जानेवालों को ध्यान से देखते थे, किन्तु उस भिखारिनी की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता था, जो एक फटी हुई साड़ी पहने यात्रियों के पीछे पीछे धीरे धीरे सिर झुकाये गङ्गा की ओर चली आ रही है। न वह चौंकती है, न हिचकती है, न घबराती है। इस भिखारिनी की नसों में रानी का रक्त है।

यहाँ से भिखारिनी ने अयोध्या की राह ली। वह दिन-भर विकट मार्गों में चलती, और रात को किसी सुनसान स्थान पर लेट रहती थी। मुख पीला पड़ गया था। पैरों में छाले थे। फूल-सा बदन कुम्हला गया था।

वह प्रायः गाँव में लाहौर की रानी के चरचे सुनती। कभी कभी पुलिस के आदमी भी उसे रानी की टोह में दत्तचित्त देख पड़ते! उन्हें देखते ही भिखारिनी के हृदय में सोई हुई रानी जाग उठती। वह आँखें उठाकर उन्हें घृणा की दृष्टि से देखती और शोक तथा क्रोध से उसकी आँखें जलने लगतीं। एक दिन अयोध्या के समीप प चकर रानी एक वृक्ष के नीचे बैठी हुई थी। उसने कमर से कटार निकालकर सामने रख दी थी। वह सोच रही थी कि कहाँ जाऊँ? मेरी यात्रा का अन्त कहाँ है? क्या इस संसार में अब मेरे लिए कहीं ठिकाना नहीं है? वहाँ से थोड़ी दूर पर आमों का एक बहुत बड़ा बाग था। उसमें बड़े बड़े डेरे और तम्बू गड़े हुए थे। कई एक सन्तरी चमकीली वर्दियाँ पहने टहल रहे थे, कई घोड़े बँधे हुए थे। रानी ने इस राजसी ठाट-बाट को शोक की दृष्टि से देखा। एक बार वह भी काश्मीर गई थी। उसका पड़ाव इससे कहीं बढ़कर था।

बैठे बैठे सन्ध्या हो गई। रानी ने वहीं रात काटना निश्चय किया। इतने में एक बूढ़ा मनुष्य टहलता हुआ आया और उसके समीप खड़ा हो गया। ऐंठी हुई दाढ़ी थी, शरीर में सटा हुआ चपकन था, कमर में तलवार लटक

रही थी। इस मनुष्य को देखते ही रानी ने तुरन्त कटार उठाकर कमर में खोंस ली। सिपाही ने उसे तीव्र दृष्टि से देखकर पूछा—बेटी, कहाँ से आती हो?

रानी ने कहा—बहुत दूर से।

'कहाँ जाओगी?'

'यह नहीं कह सकती, बहुत दूर।'

सिपाही ने रानी की ओर फिर ध्यान से देखा और कहा—ज़रा अपनी कटार मुझे दिखाओ। रानी कटार सँभालकर खड़ी हो गई और तीव्र स्वर से बोली—मित्र हो या शत्रु? ठाकुर ने कहा—मित्र। सिपाही के बातचीत करने के ढँग और चेहरे में कुछ ऐसी विलक्षणता थी जिससे रानी को विवश होकर विश्वास करना पड़ा।

वह बोली—विश्वासघात न करना। यह देखो।

ठाकुर कटार हाथ में ली। उसको उलट-पलटकर देखा और बड़े नम्र भाव से उसे आँखों से लगाया। तब रानी के आगे विनीत भाव से सिर झुकाकर वह बोला—महारानी चन्द्रकुँवरि?

रानी ने करुण स्वर से कहा—नहीं, अनाथ भिखारिनी। तुम कौन हो?

सिपाही ने उत्तर दिया—आपका एक सेवक!

रानी ने उसकी ओर निराश दृष्टि से देखा और कहा—दुर्भाग्य के सिवा उस संसार में मेरा कोई नहीं।

सिपाही ने कहा—महारानीजी, ऐसा न कहिए। पंजाब के सिंह की महारानी के वचन पर अब भी सैकड़ों सिर झुक सकते हैं। देश में ऐसे लोग वर्त्तमान हैं जिन्होंने आपका नमक खाया और उसे भूले नहीं हैं।

रानी—अब इसकी इच्छा नहीं। केवल एक शान्त-स्थान चाहती हूँ, जहाँ पर एक कुटी के सिवा और कुछ न हो।

सिपाही—ऐसा स्थान पहाड़ों में ही मिल सकता है। हिमालय की गोद में चलिए, वहीं आप उपद्रव से बच सकती हैं।

रानी (आश्चर्य से)—शत्रुओं में जाऊँ? नैपाल कब हमारा मित्र रहा है?

सिपाही—राणा जंगबहादुर दृढ़प्रतिज्ञ राजपूत हैं।

रानी—किन्तु वही जंगबहादुर तो है जो अभी-अभी हमारे विरुद्ध लार्ड डलहौज़ी को सहायता देने पर उद्यत था।

सिपाही (कुछ लज्जित-सा होकर)—तब आप महारानी चन्द्रकुँवरि थीं, आज आप भिखारिनी हैं। ऐश्वर्य के द्वेषी और शत्रु चारों ओर होते हैं। लोग जलती हुई आग को पानी से बुझाते हैं, पर राख माथे पर चढ़ाई जाती है। आप ज़रा भी सोच-विचार न करें। नैपाल में अभी धर्म का लोप नहीं हुआ है। आप भय त्याग करें और चलें, देखिए यह आपको किस भाँति सिर और आँखों पर बिठाता है।

रानी ने रात इसी वृक्ष की छाया में काटी। सिपाही भी वहीं सोया। प्रातःकाल वहाँ दो तीव्रगामी घोड़े देख पड़े। एक पर सिपाही सवार था और दूसरे पर एक अत्यन्त रूपवान् युवक। यह रानी चन्द्रकुँवरि थी, जो अपनी रक्षा-स्थान की खोज में नैपाल जाती थी। कुछ देर पीछे रानी ने पूछा—यह पड़ाव किसका है? सिपाही ने कहा—राणा जंगबहादुर का। वे तीर्थयात्रा करने आये हैं; किन्तु हमसे पहले पहुँच जायँगे।

रानी—तुमने उनसे मुझे यहीं क्यों न मिला दिया। उनका हार्दिक भाव प्रकट हो जाता।

सिपाही—यहाँ उनसे मिलना असम्भव था। आप जासूसों की दृष्टि से न बच सकतीं।

उस समय यात्रा करना प्राण को अर्पण कर देना था। दोनों यात्रियों को अनेकों बार डाकुओं का सामना करना पड़ा। उस समय रानी की वीरता उसका युद्ध-कौशल तथा फुर्ती देखकर बूढ़ा सिपाही दाँतों तले अँगुली दबाता था। कभी उनकी तलवार काम कर जाती और कभी घोड़े की तेज़ चाल।

यात्रा बड़ी लम्बी थी। जेठ का महीना मार्ग में ही समाप्त हो गया। वर्षा ऋतु आई। आकाश में मेघ-माला छाने लगी। सूखी नदियाँ उतरा चलीं। पहाड़ी नाले गरजने लगे। न नदियों में नाव, न नालों पर घाट किन्तु घोड़े

सधे हुए थे। स्वयं पानी में उतर जाते और डूबते उतराते, बहते, भँवर खाते पार जा पहुँचते। एक बार बिच्छू ने कछुए की पीठ पर नदी की यात्रा की थी। यह यात्रा उससे कम भयानक न थी।'

कहीं ऊँचे-ऊँचे साखू और महुए के जंगल थे और कहीं हरे-भरे जामुन के वन। उनकी गोद में हाथियों और हिरनों के झुंड कलोलें कर रहे थे। धान की क्यारियाँ पानी से भरी हुई थीं। किसानों की स्त्रियाँ धान रोपती थीं और सुहावने गीत गाती थीं। कहीं उन मनोहारी ध्वनियों के बीच में, खेत की मेड़ों पर छाते की छाया में बैठे हुए ज़मींदारों के कठोर शब्द सुनाई देते थे।

इसी प्रकार यात्रा के कष्ट सहते, अनेकानेक विचित्र दृश्य देखते दोनों यात्री तराई पार करके नैपाल की भूमि में प्रविष्ट हुए।

४

प्रातःकाल का सुहावना समय था। नैपाल के महाराजा सुरेन्द्रविक्रमसिंह का दरबार सजा हुआ था। राज्य के प्रतिष्ठित मंत्री अपने-अपने स्थान पर बैठे हुए थे। नैपाल ने एक बड़ी लड़ाई के पश्चात् तिब्बत पर विजय पाई थी। इस समय सन्धि की शर्तों पर विवाद छिड़ा था। कोई युद्ध-व्यय का इच्छुक था, कोई राज्य-विस्तार का। कोई-कोई महाशय वार्षिक कर पर ज़ोर दे रहे थे। केवल राणा जंगबहादुर के आने की देर थी। वे कई महीनों के देशाटन के पश्चात् आज ही रात को लौटे थे और यह प्रसंग, जो उन्हीं के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा था, अब मंत्रि-सभा में उपस्थित किया गया था। तिब्बत के यात्री, आशा और भय की दशा में, प्रधान मंत्री के मुख से अन्तिम निर्णय सुनने को उत्सुक हो रहे थे। नियत समय पर चोबदार ने राणा के आगमन की सूचना दी। दरबार के लोग उन्हें सन्मान देने के लिए खड़े हो गये। महाराज को प्रणाम करने के पश्चात् वे अपने सुसज्जित आसन पर बैठ गये। महाराज ने कहा—राणाजी, आप सन्धि के लिए कौन प्रस्ताव करना चाहते थे?

राणा ने नम्र भाव से कहा—मेरी अल्प बुद्धि में तो इस समय कठोरता

का व्यवहार करना अनुचित है। शोकाकुल शत्रु के साथ दयालु का आचरण करना सर्वदा हमारा उद्देश्य रहा है। क्या इस अवसर पर स्वार्थ के मोह में हम अपने बहुमूल्य उद्देश्य को भूल जायँगे ? हम ऐसी सन्धि चाहते हैं जो हमारे हृदय को एक कर दे। यदि तिब्बत का दरबार हमें व्यापारिक सुविधाएँ प्रदान करने को कटिबद्ध हो, तो हम सन्धि करने के लिए सर्वथा उद्यत हैं।

मंत्रि-मंडल में विवाद आरम्भ हुआ। सबकी सम्मति इस दयालुता के अनुसार न थी, किन्तु महाराज ने राणा का समर्थन किया। यद्यपि अधिकांश सदस्यों को शत्रु के साथ ऐसी नरमी पसन्द न थी, तथापि महाराज के विपक्ष में बोलने का किसी को साहस न हुआ।

यात्रियों के चले जाने के पश्चात् राणा जंगबहादुर ने खड़े होकर कहा—सभा के उपस्थित सज्जनो, आज नैपाल के इतिहास में एक नई घटना होनेवाली है, जिसे मैं आप की जातीय नीतिमत्ता की परीक्षा समझता हूँ। इसमें सफल होना आपके ही कर्तव्य पर निर्भर है। आज राज-सभा में आते समय मुझे यह आवेदनपत्र मिला है, जिसे मैं आप सज्जनों की सेवा में उपस्थित करता हूँ। निवेदक ने तुलसीदास की केवल यह चौपाई लिख दी है।

“ आपत-काल परखिए चारी।
धीरज धर्म मित्र अरु नारी ॥ ”

महाराज ने पूछा—यह पत्र किसने भेजा है ?

‘एक भिखारिनी ने।’

‘भिखारिनी कौन है ?’

‘महारानी चन्द्रकुँवरि।’

कड़बड़ खत्री ने आश्चर्य से पूछा—जो हमारी मित्र अँगरेज़ सरकार से विरुद्ध होकर भाग आई है ?

राणा जंगबहादुर ने लज्जित होकर कहा—जी हाँ। यद्यपि हम इसी विचार को दूसरे शब्दों में प्रकट कर सकते हैं।

कड़बड़ खत्री—अँगरेजों से हमारी मित्रता है और मित्र के शत्रु की सहायता करना मित्रता की नीति के विरुद्ध है।

जनरल शमशेरबहादुर—ऐसी दशा में इस बात का भय है कि अँगरेज़ी सरकार से हमारे सम्बन्ध टूट न जायँ।

राजकुमार रणवीरसिंह—हम यह मानते हैं कि अतिथि-सत्कार हमारा धर्म है; किन्तु उसी समय तक जब तक कि हमारे मित्रों को हमारी ओर से शंका करने का अवसर न मिले।

इस प्रसंग पर यहाँ तक मत-भेद तथा वाद-विवाद हुआ कि एक शोर-सा मच गया और कई प्रधान यह कहते हुए सुनाई दिये कि महारानी का इस समय आना देश के लिए कदापि मंगलकारी नहीं हो सकता।

तब राणा जंगबहादुर उठे। उनका मुख लाल हो गया था। उनका सद्विचार क्रोध पर अधिकार जमाने के लिए व्यर्थ प्रयत्न कर रहा था। वे बोले—भाइयो, यदि इस समय मेरी बातें आप लोगों को अत्यन्त कड़ी जान पड़ें तो मुझे क्षमा कीजिएगा, क्योंकि अब मुझमें अधिक श्रवण करने की शक्ति नहीं है। अपनी जातीय साहस-हीनता का यह लज्जाजनक दृश्य अब मुझसे नहीं देखा जाता। यदि नैपाल के दरबार में इतना भी साहस नहीं कि वह अतिथि-सत्कार और सहायता की नीति को निभा सके तो मैं इस घटना के सम्बन्ध में सब प्रकार का भार अपने ऊपर लेता हूँ। दरबार अपने को इस विषय में निर्दोष समझे और इसकी सर्वसाधारण में घोषणा कर दे।

कड़बड़ खत्री गर्म होकर बोले—केवल यह घोषणा देश को भय से रक्षित नहीं कर सकती।

राणा जंगबहादुर ने क्रोध से ओंठ चबा लिया, किन्तु सँभलकर कहा—देश का शासन-भार अपने ऊपर लेनेवालों को ऐसी अवस्थाएँ अनिवार्य हैं। हम उन नियमों से, जिन्हें पालन करना हमारा कर्तव्य है, मुँह नहीं मोड़ सकते। अपनी शरण में आये हुओं का हाथ पकड़ना—उनकी रक्षा करना राजपूतों का धर्म है। हमारे पूर्व पुरुष सदा इस नियम पर—धर्म पर प्राण देने को उद्यत

रहते थे। अपने माने हुए धर्म को तोड़ना एक स्वतंत्र जाति के लिए लज्जास्पद है। अँगरेज़ हमारे मित्र हैं और अत्यन्त हर्ष का विषय है कि बुद्धिशाली मित्र हैं। महारानी चंद्रकुँवरि को अपनी दृष्टि में रखने से उनका उद्देश्य केवल यह था कि उपद्रवी लोगों के गिरोह का कोई केन्द्र शेष न रहे। यदि उनका यह उद्देश्य भंग न हो तो, हमारी ओर से शंका होने का न उन्हें कोई अवसर है और न हमें उनसे लज्जित होने की कोई आवश्यता।

कड़बड़—महारानी चन्द्रकुंवरि यहाँ किस प्रयोजन से आई हैं?

राणा जंगबहादुर—केवल एक शान्ति-प्रिय सुख-स्थान की खोज में जहाँ उन्हें अपनी दुरवस्था की चिन्ता से मुक्त होने का अवसर मिले। वह ऐश्वर्य-शाली रानी जो रंगमहलों में सुख-विलास करती थी, जिसे फूलों की सेज पर भी चैन न मिलता था—आज सैकड़ों कोस से अनेक प्रकार के कष्ट सहन करती, नदी-नाले, पहाड़, जंगल छानती यहाँ केवल एक रक्षित स्थान की खोज में आई है। उमड़ी हुई नदियाँ और उबलते हुए नाले, बरसात के दिन। इन दुःखों को आप लोग जानते हैं। और यह सब उसी एक रक्षित स्थान के लिए—उसी एक भूमि के टुकड़े की आशा में। किन्तु हम ऐसे स्थान-हीन हैं कि उनकी यह अभिलाषा भी पूरी नहीं कर सकते। उचित तो यह था कि उतनी-सी भूमि के बदले हम अपना हृदय फैला देते। सोचिए, कितने अभि-मान की बात है कि एक अपदा में फँसी हुई रानी अपने दुःख के दिनों में जिस देश को याद करती है यह वही पवित्र देश है। महारानी चंद्रकुँवरि को हमारे इस अभयप्रद स्थान पर—हमारी शरणागतों की रक्षा पर पूरा भरोसा था और वही विश्वास उन्हें यहाँ तक लाया है। इसी आशा पर कि पशुपतिनाथ की शरण में मुझको शान्ति मिलेगी, वह यहाँ तक आई हैं। आपको अधि-कार है चाहे उनकी आशा पूर्ण करें या उसे धूल में मिला दें। चाहे रक्ष-णता के—शरणागतों के साथ सदाचरण—के नियमों को निभाकर इतिहास के पृष्ठों पर अपना नाम छोड़ जायँ, या जातीयता तथा सदाचार-सम्बन्धी नियमों को मिटाकर स्वयं अपने को पतित समझें। मुझे विश्वास नहीं है कि

यहाँ एक भी मनुष्य ऐसा निरभिमान है कि जो इस अवसर पर शरणागत-पालन धर्म को विस्मृत करके अपना सिर ऊँचा कर सके। अब मैं आपके अन्तिम निपटारे की प्रतीक्षा करता हूँ। कहिए, आप अपनी जाति और देश का नाम उज्ज्वल करेंगे या सर्वदा के लिए अपने माथे पर अपयश का टीका लगायँगे?

राजकुमार ने उमंग से कहा—हम महारानी के चरणों तले आँखें बिछायेंगे।

कप्तान विक्रमसिंह बोले—हम राजपूत हैं और अपने धर्म का निर्वाह करेंगे।

जनरल बनवीरसिंह—हम उनको ऐसी धूमधाम से लायँगे कि संसार चकित हो जायगा।

राणा जंगबहादुर ने कहा—मैं अपने मित्र कड़बड़ खत्री के मुख से उनका फैसला सुनना चाहता हूँ।

कड़बड़ खत्री एक प्रभावशाली पुरुष थे, और मंत्रिमण्डल में वे राणा जंगबहादुर की विरुद्ध मण्डली के प्रधान थे। वे लज्जा भरे शब्दों में बोले—यद्यपि मैं महारानी के आगमन को भयरहित नहीं समझता, किन्तु इस अवसर पर हमारा धर्म यही है कि हम महारानी को आश्रय दें। धर्म से मुँह मोड़ना किसी जाति के लिए मान का कारण नहीं हो सकता।

कई ध्वनियों ने उमंग भरे शब्दों में इस प्रसंग का समर्थन किया।

महाराज सुरेन्द्रविक्रमसिंह के इस निपटारे पर बधाई देता हूँ। तुमने जाति का नाम रख लिया। पशुपति इस उत्तम कार्य्य में तुम्हारी सयायता करें।

सभा विसर्जित हुई। दुर्ग से तोपें छूटने लगीं। नगर भर में खबर गूँज उठी कि पंजाब की महारानी चन्द्रकुँवरि का शुभागमन हुआ है। जनरल रणवीरसिंह और जनरल समरधीरसिंह बहादुर ५०००० सेना के साथ महारानी की अगवानी के लिए चले।

अतिथि-भवन की सजावट होने लगी। बाज़ार अनेक भाँति की उत्तम सामग्रियों से सज गये।

ऐश्वर्य्य की प्रतिष्ठा व सम्मान सब कहीं होता है, किन्तु किसी ने भिखारिनी का ऐसा सम्मान देखा है? सेनाएँ बैंड बजाती और पताका फहराती हुईं एक उमड़ी नदी की भाँति चली जाती थीं। सारे नगर में आनन्द ही आनन्द था। दोनों ओर सुन्दर वस्त्राभूषणों से सजे दर्शकों का समूह खड़ा था। सेना के कमांडर आगे आगे घोड़ों पर सवार थे। सब के आगे राणा जंगबहादुर जातीय अभिमान के मद में लीन, अपने सुवर्णखचित हौदे में बैठे हुए थे। यह उदारता का एक पवित्र दृश्य था। धर्मशाला के द्वार पर यह जुलूस रुका। राणा हाथी से उतरे। महारानी चंद्रकुँवरि कोठरी से बाहर निकल आईं। राणा ने झुककर वन्दना की। रानी उनकी ओर आश्चर्य से देखने लगीं। यह वही उनका मित्र बूढ़ा सिपाही था।

आँखें भर आईं। मुसकराईं। खिले हुए फूल पर से ओस की बूँदें टपकीं। रानी बोली—मेरे बूढ़े ठाकुर, मेरी नाव पार लगानेवाले, किस भाँति तुम्हारा गुण गाऊँ?

राणा ने सिर झुकाकर कहा—आपके चरणारविन्द से हमारे भाग्य उदय हो गये।

६

नैपाल की राजसभा में पच्चीस हज़ार रुपये से महारानी के लिए एक उत्तम भवन बनवा दिया और उनके लिए दस हज़ार रुपया मासिक नियत कर दिया।

वह भवन आज तक वर्तमान है और नैपाल की शरणागतप्रियता तथा प्रणपालन-तत्परता का स्मारक है। पञ्जाब की रानी को लोग आज तक याद करते हैं।

यह वह सीढ़ी है जिससे जातियाँ यश के सुनहले शिखर पर पहुँचती हैं। ये ही घटनाएँ हैं जिनसे जातीय-इतिहास प्रकाश और महत्त्व को प्राप्त होता है।

पोलिटिकल रेज़ीडेण्ट ने गवर्नमेंट को रिपोर्ट की। इस बात की शंका थी कि गवर्नमेंट आफ़ इण्डिया और नैपाल के बीच कुछ खिंचाव हो जाय। किन्तु गवर्नमेंट को राणा जंगबहादुर पर पूर्ण विश्वास था और जब नैपाल की राजसभा ने विश्वास और सन्तोष दिलाया कि महारानी चन्द्रकुँवरि को किसी शत्रुभाव का अवसर न दिया जायगा, तो भारत सरकार को भी सन्तोष हो गया। इस घटना को भारतीय इतिहास की अँधेरी रात में 'जुगुनू की चमक' कहना चाहिए।

धोखा

१

सतीकुण्ड में खिले हुए कमल वसन्त के धीमे-धीमे झोंकों से लहरा रहे थे और प्रातःकाल की मन्द-मन्द सुनहरी किरणें उनसे मिल-मिलकर मुसकराती थीं। राजकुमारी प्रभा कुण्ड के किनारे हरी-हरी घास पर खड़ी सुन्दर पक्षियों का कलरव सुन रही थी। उसका कनक-वर्ण तन इन्हीं फूलों की भाँति दमक रहा था। मानों प्रभात की साक्षात् सौम्य मूर्ति है, जो भगवान् अंशुमाली के किरण-करों द्वारा निर्मित हुई थी।

प्रभा ने मौलसिरी के वृक्ष पर बैठी हुई एक श्यामा की ओर देखकर कहा—मेरा जी चाहता है कि मैं भी एक चिड़िया होती।

उसकी सहेली उमा ने मुसकराकर पूछा—यह क्यों?

प्रभा ने कुण्ड की ओर ताकते हुए उत्तर दिया—वृक्ष की हरी-भरी डालियों पर बैठी हुई चहचहाती, मेरे कलरव से सारा बाग़ गूँज उठता।

उमा ने छेड़कर कहा—नौगढ़ की रानी ऐसे कितने ही पक्षियों का गाना जब चाहे सुन सकती है।

प्रभा ने संकुचित होकर कहा—मुझे नौगढ़ की रानी बनने की अभिलाषा नहीं है। मेरे लिए किसी नदी का सूनसान किनारा चाहिए। एक वीणा और ऐसे ही सुन्दर सुहावने पक्षियों की संगति। मधुर ध्वनि में मेरे लिए सारे संसार का ऐश्वर्य भरा हुआ है।

प्रभा का संगीत पर अपरिमित प्रेम था। वह बहुधा ऐसे ही सुख-स्वप्न देखा करती थी। उमा उत्तर देना ही चाहती थी कि इतने में बाहर से किसी के गाने की आवाज़ आई—

कर गये थोड़े दिन की प्रीति।

प्रभा ने एकाग्रमन होकर सुना और अधीर होकर कहा—बहिन, इस वाणी में जादू है। मुझे अब बिना सुने नहीं रहा जाता, इसे भीतर बुला लाओ।

उसपर भी गीत का जादू असर कर रहा था। वह बोली—निःसन्देह ऐसा राग मैंने आज तक नहीं सुना, खिड़की खोलकर बुलाती हूँ।

थोड़ी देर में रागिया भीतर आया। सुन्दर सजीले बदन का नौजवान था। नंगे पैर, नंगे सिर, कन्धे पर एक मृगचर्म, शरीर पर एक गेरुआ वस्त्र, हाथों में एक सितार। मुखारविन्द से तेज छिटक रहा था। उसने दबी हुई दृष्टि से दोनों कोमलांगी रमणियों को देखा और सिर झुकाकर बैठ गया।

प्रभा ने झिझकती हुई आँखों से देखा और दृष्टि नीची कर ली। उमा ने कहा—योगीजी, हमारे बड़े भाग्य थे कि आपके दर्शन हुए, हमको भी कोई पद सुनाकर कृतार्थ कीजिए।

योगी ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—हम योगी लोग नारायण का भजन करते हैं। ऐसे-ऐसे दरबारों में हम भला क्या गा सकते हैं, पर आपकी इच्छा है तो सुनिए।

कर गये थोड़े दिन की प्रीति।
कहाँ वह प्रीति कहाँ यह बिछुरन, कहाँ मधुबन की रीति,
कर गये थोड़े दिन की प्रीति।

योगी का रसीला करुण स्वर, सितार का सुमधुर निनाद, उस पर गीत का माधुर्य, प्रभा को बेसुध किये देता था। इसका रसज्ञ स्वभाव और उसका मधुर रसीला गाना, अपूर्व संयोग था। जिस भाँति सितार की ध्वनि गगन-मण्डल में प्रतिध्वनित हो रही थी, उसी भाँति प्रभा के हृदय में लहरों की हिलोरें उठ रहीं थीं। वे भावनाएँ जो अब तक शान्त थीं, जाग पड़ीं। हृदय सुख-स्वप्न देखने लगा। सतीकुण्ड के कमल तिलिस्म की परियाँ बन-बनकर मँडराते हुए भौंरों से कर जोड़ सजल-नयन हो, कहते थे—

कर गये थोड़े दिन की प्रीति

सुर्ख और हरी पत्तियों से लदी हुई डालियाँ सिर झुकाये चहकते हुए पक्षियों से रो-रोकर कहती थीं—

कर गये थोड़े दिन की प्रीति

और राजकुमारी प्रभा का हृदय भी सितार की मस्तानी तान के साथ गूँजता था—

कर गये थोड़े दिन की प्रीति

२

प्रभा बघौली के राव देवीचन्द्र की एकलौती कन्या थी। राव पुराने विचारों के रईस थे। कृष्ण की उपासना में लवलीन रहते थे, इसलिए इनके दरबार में दूर-दूर के कलावन्त और गवैये आया करते और इनाम-एकराम पाते थे। राव साहब को गाने से प्रेम था, वे स्वयं भी इस विद्या में निपुण थे। यद्यपि अब वृद्धावस्था के कारण यह शक्ति निःशेष हो चली थी, पर फिर भी इस विद्या के गूढ़ तत्त्वों के पूर्ण जानकार थे। प्रभा बाल्य-काल से ही इनकी सोहबतों में बैठने लगी। कुछ तो पूर्व-जन्म का संस्कार और कुछ रात-दिन गाने की ही चर्चाओं ने उसे भी इस फन में अनुरक्त कर दिया था। इस समय उसके सौन्दर्य की खूब चर्चा थी। रावसाहब ने नौगढ़ के नवयुवक और सुशील राजा हरिश्चन्द्र से उसकी शादी तजवीज की थी। उभय पक्ष में तैयारियाँ हो रही थीं। राजा हरिश्चन्द्र मेयो कालिज अजमेर के विद्यार्थी और नई रोशनी के भक्त थे। उनकी आकांक्षा थी कि उन्हें एकबार राजकुमारी प्रभा से साक्षात्कार होने और प्रेमालाप करने का अवसर दिया जाये। किन्तु रावसाहब इस प्रथा को दूषित समझते थे।

प्रभा राजा हरिश्चन्द्र के नवीन विचारों की चर्चा सुनकर इस सम्बन्ध से बहुत सन्तुष्ट न थी। पर जबसे उसने इस प्रेममय युवा योगी का गाना सुना था, तबसे तो वह उसी के ध्यान में डूबी रहती। उमा उसकी सहेली थी। इन दोनों के बीच कोई परदा न था, परन्तु इस भेद को प्रभा ने उससे भी गुप्त रखा। उमा उसके स्वभाव से परिचित थी, ताड़ गई। परन्तु उसने

उपदेश करके इस अग्नि को भड़काना उचित न समझा। उसने सोचा कि थोड़े दिनों में यह अग्नि आप से आप शान्त हो जायगी। ऐसी लालसाओं का अंत प्रायः इसी तरह हो जाया करता है। किन्तु उसका अनुमान ग़लत सिद्ध हुआ। योगी की वह मोहिनी मूर्ति कभी प्रभा की आँखों से न उतरती। उसका मधुरराग प्रतिक्षण उसके कानों में गूँजा करता। उसी कुंड के किनारे वह सिर झुकाये सारे दिन बैठी रहती। कल्पना में वही मधुर हृदयग्राही राग सुनती और वही योगी की मनोहारिणी मूर्ति देखती। कभी कभी उसे ऐसा भास होता कि बाहर से यह आलाप आ रही है। वह चौंक पड़ती और तृष्णा से प्रेरित होकर वाटिका की चहार-दीवार तक जाती और वहाँ से निराश होकर लौट आती। फिर आप ही विचार करती—यह मेरी क्या दशा है! मुझे यह क्या हो गया है! मैं हिन्दू कन्या हूँ, माता-पिता जिसे सौंप दें, उसकी दासी बन-कर रहना मेरा धर्म है। मुझे तन-मन से उसकी सेवा करनी चाहिए। किसी अन्य पुरुष का ध्यान तक मन में लाना मेरे लिए पाप है। आह! यह कलु-षित हृदय लेकर मैं किस मुँह से पति के पास जाऊँगी! इन कानों से क्योंकर प्रणय की बातें सुन सकूँगी जो मेरे लिए व्यंग से भी अधिक कर्ण-कटु होंगी! इन पापी नेत्रों से वह प्यारी-प्यारी चितवन कैसे देख सकूँगी जो मेरे लिए वज्र से भी हृदय-भेदी होगी! इस गले में वे मृदुल प्रेम-बाहु पड़ेंगे जो लोह-दंड से भी अधिक भारी और कठोर होंगे। प्यारे, तुम मेरे हृदय-मंदिर से निकल जाओ। यह स्थान तुम्हारे योग्य नहीं। मेरा वश होता तो तुम्हें हृदय की सेज पर सुलाती। परन्तु मैं धर्म की रस्सियों में बँधी हूँ।

इस तरह एक महीना बीत गया। ब्याह के दिन निकट आते जाते थे और प्रभा का कमल-सा मुख कुम्हलाया जाता था। कभी-कभी विरह-वेदना एवं विचार-विप्लव से व्याकुल होकर उसका चित्त चाहता कि सती-कुंड की गोद में शान्ति लूँ। किन्तु राव साहब इस शोक में जान ही देंगे, यह विचार कर वह रुक जाती। सोचती, मैं उनकी जीवन-सर्वस्व हूँ, मुझ अभागिनी को उन्होंने किस लाड़-प्यार से पाला है; मैं ही उनके जीवन का आधार और

अन्तकाल की आशा हूँ। नहीं, यों प्राण देकर उनकी आशाओं की हत्या न करूँगी। मेरे हृदय पर चाहे जो बीते, उन्हें न कुढ़ाऊँगी। प्रभा का एक योगी गवैये के पीछे उन्मत्त हो जाना कुछ शोभा नहीं देता। योगी का गान तानसेन के गानों से भी अधिक मनोहर क्यों न हो, पर एक राजकुमारी का उसके हाथों बिक जाना हृदय की दुर्बलता प्रकट करता है। किन्तु राव साहब के दरबार में विद्या की, शौर्य की, और वीरता से प्राण हवन करने की चर्चा न थी। यहाँ तो रात-दिन राग-रंग की धूम रहती थी। यहाँ इसी शास्त्र के आचार्य प्रतिष्ठा के मसनद पर विराजित थे, और उन्हीं पर प्रशंसा के बहुमूल्य रत्न लुटाये जाते थे। प्रभा ने प्रारम्भ ही से इसी जल-वायु का सेवन किया था और उस पर इनका गाढ़ा रंग चढ़ गया था। ऐसी अवस्था में उसकी गान-लिप्सा ने यदि भीषण रूप धारण कर लिया तो कोई आश्चर्य ही क्या है!

३

शादी बड़ी धूमधाम से हुई। राव साहब ने प्रभा को गले लगाकर बिदा किया। प्रभा बहुत रोई। उमा को वह किसी तरह छोड़ती न थी।

नौगढ़ एक बड़ी रियासत थी और राजा हरिश्चन्द्र के सुप्रबन्ध से उन्नति पर थी। प्रभा की सेवा के लिए दासियों की एक पूरी फ़ौज थी। उसके रहने के लिए वह आनन्द-भवन सजाया गया था जिसके बनाने में शिल्प-विशारदों ने अपूर्व कौशल का परिचय दिया था। शृंगार-चतुराओं ने दुलहिन को ख़ूब सँवारा। रसीले राजासाहब अधरामृत के लिए विह्वल हो रहे थे। अन्तःपुर में गये। प्रभा ने हाथ जोड़कर, शिर झुकाकर, उनका अभिवादन किया। उसकी आँखों से आँसू की नदी बह रही थी। पति ने प्रेम के मद में मत्त होकर घूँघट हटा दिया। दीपक था, पर बुझा हुआ। फूल था, पर मुरझाया हुआ।

दूसरे दिन से राजासाहब की यह दशा हुई कि भौंरे की तरह प्रतिक्षण इस फूल पर मँड़राया करते। न राज-पाट की चिन्ता थी, न सैर और शिकार की परवा। प्रभा की वाणी रसीला राग थी, उसकी चितवन सुख का सागर, और उसका मुख-चन्द्र आमोद का सुहावना कुंज। बस, प्रेम-मद में राजा साहब

बिलकुल मतवाले हो गये थे। उन्हें क्या मालूम था कि दूध में मक्खी है।

यह असम्भव था कि राजासाहब के हृदय-हारी और सरस व्यवहार का जिसमें सच्चा अनुराग भरा हुआ था, प्रभा पर कोई प्रभाव न पड़ता। प्रेम का प्रकाश अँधेरे हृदय को भी चमका देता है। प्रभा मन में बहुत लज्जित होती। वह अपने को इस निर्मल और विशुद्ध प्रेम के योग्य न पाती थी। इस पवित्र प्रेम के बदले में उसे अपने कृत्रिम, रँगे हुए, भाव प्रकट करते हुए मानसिक कष्ट होता था। जब तक कि राजा साहब उसके साथ रहते, वह उनके गले में लता की भाँति लपटी हुई घंटों प्रेम की बातें किया करती। वह उनके साथ सुमन-वाटिका में चुहल करती, उनके लिए फूलों के हार गूँथती और उनके गले में हाथ डालकर कहती—प्यारे देखना ये फूल मुरझा न जावें, इन्हें सदा ताजा रखना। वह चाँदनी रात में उनके साथ नाव पर बैठकर झील की सैर करती, और उन्हें प्रेम का राग सुनाती। यदि उन्हें बाहर से आने में ज़रा भी देर हो जाती, तो वह मीठा-मीठा उलाहना देती, उन्हें निर्दय तथा निष्ठुर कहती। उनके सामने वह स्वयं हँसती, उसकी आँखें हँसती और आँखों का काजल हँसता था। किन्तु आह! जब वह अकेली होती, उसका चंचल चित्त उड़कर उसी कुंड के तट पर जा पहुँचता, कुंड का वह नीला-नीला पानी, उस पर तैरते हुए कमल और मौलसरी की वृक्ष-पंक्तियों का सुन्दर दृश्य आँखों के सामने आ जाता। उमा मुसकराती और नज़ाकत से लचकती हुई आ पहुँचती, तब रसीले योगी की मोहनी छवि आँखों में आ बैठती, और सितार के सुललित सुर गूँजने लगते—

कर गये थोड़े दिन की प्रीति

तब वह एक दीर्घ निःश्वास लेकर उठ बैठती और बाहर निकलकर पिंजरे में चहकते हुए पक्षियों के कलरव में शान्ति प्राप्त करती। इस भाँति यह स्वप्न तिरोहित हो जाता।

४

इस तरह कई महीने बीत गये। एक दिन राजा हरिश्चन्द्र प्रभा को अपनी

चित्रशाला में ले गये। उसके प्रथम भाग में ऐतिहासिक चित्र थे। सामने ही शूरवीर महाराणा प्रतापसिंह का चित्र नज़र आया। मुखारविन्द से वीरता की ज्योति स्फुटित हो रही थी। तनिक और आगे बढ़कर दाहिनी ओर स्वामि-भक्त जगमल, वीरवर साँगा और दिलेर दुर्गादास विराजमान थे। बायीं ओर उदार भीमसिंह बैठे हुए थे। राणा प्रताप के सम्मुख महाराष्ट्रकेसरी वीर शिवाजी का चित्र था। दूसरे भाग में कर्मयोगी कृष्ण और मर्यादा पुरुषोत्तम राम विराजते थे। चतुर चित्रकारों ने चित्र-निर्माण में अपूर्व कौशल दिख-लाया था। प्रभा ने प्रताप के पाद-पद्मों को चूमा और वह कृष्ण के सामने देर तक नेत्रों में प्रेम और श्रद्धा के आँसू भरे मस्तक झुकाये खड़ी रही। उसके हृदय पर इस समय कलुषित प्रेम का भय खटक रहा था। उसे मालूम होता कि यह उन महापुरुषों के चित्र नहीं; उनकी पवित्र आत्माएँ हैं। उन्हीं के चरित्र से भारतवर्ष का इतिहास गौरवान्वित है। वे भारत के बहुमूल्य जातीय रत्न, उच्च कोटि के जातीय स्मारक, और गगनभेदी जातीय तुमुल ध्वनि हैं। ऐसी उच्च आत्माओं के सामने खड़े होते उसे संकोच होता था। आगे वही दूसरा भाग सामने आया। यहाँ ज्ञानमय बुद्ध योग-साधन में बैठे हुए देख पड़े। उनकी दाहिनी ओर शास्त्रज्ञ शंकर थे और बाँयें दार्शनिक दया-नन्द। एक ओर शान्तिपथगामी कबीर और भक्त रामदास यथायोग्य खड़े थे। एक दीवार पर गुरु गोविन्द अपने देश और जाति के नाम पर बलि चढ़ने-वाले दोनों बच्चों के साथ विराजमान थे। दूसरी दीवार पर वेदान्त की ज्योति फैलानेवाले स्वामी रामतीर्थ और विवेकानन्द विराजमान थे। चित्रकारों की योग्यता एक एक अवयव से टपकती थी। प्रभा ने इनके चरणों पर मस्तक टेका। वह उनके सामने सिर न उठा सकी। उसे अनुभव होता था कि उनकी दिव्य आँखें उसके दूषित हृदय में चुभी जाती हैं।

इसके बाद तीसरा भाग आया! यह प्रतिभाशाली कवियों की सभा थी। सर्वोच्च स्थान पर आदिकवि बाल्मीकि और महर्षि वेदव्यास सुशोभित थे। दाहिनी ओर श्रृङ्गाररस के अद्वितीय कवि कालिदास थे, बाँयी तरफ़ गम्भीर

भावों से पूर्ण भवभूति। निकट ही भर्तृहरि अपने सन्तोषाश्रम में बैठे हुए थे।

दक्षिण की दीवार पर राष्ट्रभाषा हिन्दी के कवियों का सम्मेलन था। सहृदय कवि सूर, तेजस्वी तुलसी, सुकवि केशव और रसिक बिहारी यथाक्रम विराजमान थे। सूरदास से प्रभा का अगाध प्रेम था। वह समीप जाकर उनके चरणों पर मस्तक रखना ही चाहती थी कि अकस्मात् उन्हीं चरणों के सम्मुख सिर झुकाये उसे एक छोटा-सा-चित्र देख पड़ा। प्रभा उसे देखकर चौंक पड़ी। यह वही चित्र था जो उसके हृदय-पट पर खिंचा हुआ था। वह खुलकर उसकी तरफ़ ताक न सकी। दबी हुई आँखों से देखने लगी। राजा हरिश्चन्द्र ने मुसकराकर पूछा—इस व्यक्ति को तुमने कहीं देखा है?

इस प्रश्न से प्रभा का हृदय काँप उठा। जिस तरह मृग-शावक व्याध के सामने व्याकुल हो इधर उधर देखता है, उसी तरह प्रभा अपनी बड़ी बड़ी आँखों से दीवार की ओर ताकने लगी। सोचने लगी—क्या उत्तर दूँ? इसको कहाँ देखा है, उन्होंने यह प्रश्न मुझसे क्यों किया? कहीं ताड़ तो नहीं गये? हे नारायण, मेरी पत तुम्हारे हाथ है। क्यों कर इनकार करूँ? मुँह पीला हो गया। सिर झुका क्षीण स्वर से बोली—

'हाँ, ध्यान आता है कि कहीं देखा है।'

हरिश्चन्द्र ने कहा—कहाँ देखा है?

प्रभा के सिर में चक्कर-सा आने लगा। बोली—शायद एक बार यह गाता हुआ मेरी वाटिका के सामने जा रहा था। उमा ने बुलाकर इसका गान सुना था।

हरिश्चन्द्र ने पूछा—कैसा गाना था?

प्रभा के होश उड़े हुए थे। सोचती थी, राजा के इन सवालों में ज़रूर कोई बात है। देखूँ, आज रहती है या नहीं। बोली—उसका गाना ऐसा बुरा न था।

हरिश्चन्द्र ने मुसकराकर पूछा—क्या गाया था?

प्रभा ने सोचा, इस प्रश्न का उत्तर दे दूँ तो बाकी क्या रहता है। उसे

विश्वास हो गया कि आज कुशल नहीं है। वह छत की ओर निखरती हुई बोली—सूरदास का कोई पद था।

हरिश्चन्द्र ने कहा—यह तो नहीं—

कर गये थोड़े दिन की प्रीति।

प्रभा की आँखों के सामने अँधेरा छा गया, सिर घूमने लगा, वह खड़ी न रह सकी, बैठ गई, और हताश होकर बोली—हाँ, यही पद था। फिर उसने कलेजा मज़बूत करके पूछा—आपको कैसे मालूम हुआ?

हरिश्चन्द्र बोले—वह योगी मेरे यहाँ अकसर आया जाया करता है। मुझे भी उसका गाना पसन्द है। उसी ने मुझे यह हाल बताया था, किन्तु वह तो कहता था कि राजकुमारी ने मेरे गानों को बहुत पसंद किया और पुनः आने के लिए आदेश किया।

प्रभा को अब सच्चा क्रोध दिखाने का अवसर मिल गया। वह बिगड़कर बोली—यह बिलकुल झूठ है। मैंने उससे कुछ नहीं कहा।

हरिश्चन्द्र बोले—यह तो मैं पहले ही समझ गया था कि यह उन महाशय की चालाकी है। डींग मारना गवैयों की आदत है। परन्तु इसमें तो तुम्हें इनकार नहीं कि उसका गाना बुरा न था?

प्रभा बोली—ना। अच्छी चीज़ को बुरा कौन कहेगा?

हरिश्चन्द्र ने पूछा—फिर सुनना चाहो तो उसे बुलवाऊँ। सिर के बल दौड़ा आयेगा।

'क्या उनके दर्शन फिर होंगे?' इस आशा से प्रभा का मुखमंडल विकसित हो गया। परन्तु इन कई महीनों की लगातार कोशिश से जिस बात को भुलाने में वह किंचित् सफल हो चली थी, उसके फिर नवीन हो जाने का भय हुआ। बोली—इस समय गाना सुनने को मेरा जी नहीं चाहता।

राजा ने कहा—यह मैं न मानूँगा कि तुम और गाना नहीं सुनना चाहतीं, मैं उसे अभी बुलाये लाता हूँ।

यह कहकर राजा हरिश्चन्द्र तीर की तरह कमरे से बाहर निकल गये।

प्रभा उन्हें रोक न सकी। वह बड़ी चिन्ता में डूबी खड़ी थी। हृदय में खुश और रंज की लहरें बारी-बारी से उठती थीं। मुश्किल से दस मिनट बीते होंगे कि उसे सितार के मस्ताने सुर के साथ योगी की रसीली तान सुनाई दी —

कर गये थोड़े दिन की प्रीति

वही हृदय-ग्राही राग था, वही हृदय-भेदी प्रभाव, वही मनोहरता और वही सब कुछ जो मन को मोह लेता है। क्षण-एक में योगी की मोहिनी मूर्ति दिखाई दी। वही मस्तानापन, वही मतवाले नेत्र, वही नयनाभिराम देवताओं का-सा स्वरूप। मुखमंडल पर मन्द मन्द मुसकान थी। प्रभा ने उसकी तरफ़ सहमी हुई आँखों से देखा। एकाएक उसका हृदय उछल पड़ा। उसकी आँखों के आगे से एक पर्दा हट गया। प्रेम-विह्वल हो आँखों में आँसू भरे वह अपने पति के चरणारविन्दों पर गिर पड़ी, और गद्गद कंठ से बोली—प्यारे! प्रियतम!

राजा हरिश्चन्द्र को आज सच्ची विजय प्राप्त हुई। उन्होंने प्रभा को उठा कर छाती से लगा लिया। दोनों आज एकप्राण हो गये। राजा हरिश्चन्द्र ने कहा—जानती हो, मैंने यह स्वाँग क्यों रचा था? गाने का मुझे सदा से व्यसन है, और सुना है कि तुम्हें भी इसका शौक है। तुम्हें अपना हृदय भेंट करने से प्रथम एक बार तुम्हारा दर्शन करना आवश्यक प्रतीत हुआ और इसके लिए सबसे सुगम उपाय यही सूझ पड़ा।

प्रभा ने अनुराग से देखकर कहा—योगी बनकर तुमने जो कुछ पा लिया, वह राजा रहकर कदापि न पा सकते। अब तुम मेरे पति हो और प्रियतम भी हो। पर तुमने मुझे बड़ा धोखा दिया और मेरी आत्मा को कलंकित किया। इसका उत्तरदाता कौन होगा?

अमावास्या की रात्रि

१

दिवाली की सन्ध्या थी। श्रीनगर के घूरों और खंडहरों के भी भाग्य चमक उठे थे। कस्बे के लड़के और लड़कियाँ श्वेत थालियों में दीपक लिये मन्दिर की ओर जा रही थीं। दीपों से अधिक उनके मुखारविन्द प्रकाशवान् थे। प्रत्येक गृह रोशनी से जगमगा रहा था। केवल पण्डित देवदत्त का सत-खरा भवन अन्धकार में काली घटा की गम्भीर और भयंकर रूप में खड़ा था। गम्भीर इसलिए कि उसे अपनी उन्नति के दिन भूले न थे। भयङ्कर इसलिए कि यह जगमगाहट मानो उसे चिढ़ा रही थी। एक समय वह था जब कि ईर्षा भी उसे देख देखकर हाथ मलती थी और एक समय यह है जब कि घृणा भी उस पर कटाक्ष करती है। द्वार पर द्वारपाल की जगह अब मदार और एरण्ड के वृक्ष खड़े थे। दीवनखाने में एक मतङ्ग साँड़ अकड़ता था। ऊपर के घरों में जहाँ सुन्दर रमणियाँ मनोहारी सङ्गीत गाती थीं, वहाँ आज जङ्गली कबूतरों के मधुर स्वर सुनाई देते थे। किसी अँगरेज़ी मदरसे के विद्यार्थी के आचरण की भाँति उसकी जड़ें हिल गई थीं और उसकी दीवारें किसी विधवा स्त्री के हृदय की भाँति विदीर्ण हो रही थीं। पर समय को हम कुछ कह नहीं सकते। समय की निन्दा व्यर्थ और भूल है, यह मूर्खता और अदूरदर्शिता का फल था।

अमावास्या की रात्रि थी। प्रकाश से पराजित होकर मानो अन्धकार ने उसी विशाल भवन में शरण ली थी। पण्डित देवदत्त अपने अर्द्ध अन्धकारवाले कमरे में मौन परन्तु चिन्ता में निमग्न थे। आज एक महीने से उनकी पत्नी 'गिरजा' की ज़िन्दगी को निर्दय काल ने खिलवाड़ बना लिया है। पण्डितजी दरिद्रता और दुःख को भुगतने के लिए तैयार थे। भाग्य का भरोसा उन्हें धैर्य

बँधाता था। किन्तु यह नई विपत्ति सहन-शक्ति से बाहर थी। बिचारे दिन के दिन गिरिजा के सिरहाने बैठके उसके मुरझाये हुए मुख को देखकर कुढ़ते और रोते थे। गिरजा जब अपने जीवन से निराश होकर रोती तो वह उसे समझाते—गिरिजा, रोओ मत, शीघ्र अच्छी हो जाओगी।

पण्डित देवदत्त के पूर्वजों का कारोबार बहुत विस्तृत था। वे लेन-देन किया करते थे। अधिकतर उनके व्यवहार बड़े बड़े चकलेदारों और रजवाड़ों के साथ थे। उस समय ईमान इतना सस्ता नहीं बिकता था। सादे पत्रों पर लाखों की बातें हो जाती थीं। मगर सन् ५७ ईस्वी के बलवे ने कितनी ही रियासतों और राज्यों को मिटा दिया और उनके साथ तिवारियों का यह अन्न-धन-पूर्ण परिवार भी मिट्टी में मिल गया। खजाना लुट गया, बही-खाते पंसारियों के काम आये। जब कुछ शान्ति हुई, रियासतें फिर सँभलीं तो समय पलट चुका था। वचन लेख के अधीन हो रहा था, तथा लेख में भी सादे और रंगीन का भेद होने लगा था।

जब देवदत्त ने होश सँभाला तब उनके पास इस खंडहर के अतिरिक्त और कोई सम्पत्ति न थी। अब निर्वाह के लिए कोई उपाय न था। कृषि में परिश्रम और कष्ट था। वाणिज्य के लिए धन और बुद्धि की आवश्यकता थी। विद्या भी ऐसी नहीं थी कि कहीं नौकरी करते, परिवार की प्रतिष्ठा दान लेने में बाधक थी। अस्तु, साल में दो-तीन बार अपने पुराने व्यवहारियों के घर बिन बुलाये पाहुनों की भाँति जाते और जो कुछ बिदाई तथा मार्ग-व्यय पाते उसी पर गुज़रान करते। पैतृक प्रतिष्ठा का चिह्न यदि कुछ शेष था तो वह पुरानी चिट्ठी-पत्रियों का ढेर तथा हुंडियों का पुलिन्दा, जिन की स्याही भी उनके मन्द भाग्य की भाँति फीकी पड़ गई थी। पण्डित देवदत्त उन्हें प्राण से भी अधिक प्रिय समझते। द्वितीया के दिन जब घर घर लक्ष्मी की पूजा होती है, पण्डितजी ठाठ-बाट से इन पुलिन्दों की पूजा करते। लक्ष्मी न सही, लक्ष्मी का स्मारक चिह्न ही सही। दूज का दिन पण्डितजी की प्रतिष्ठा के श्राद्ध का दिन था इसे चाहे विडम्बना कहो, चाहे मूर्खता परन्तु, श्रीमान् पण्डित महाशय के

न पत्रों पर बड़ा अभिमान था। जब गाँव में कोई विवाद छिड़ जाता तो
ह सड़े-गले कागज़ों की सेना ही बहुत काम कर जाती और प्रतिवादी शत्रु-
ो हार माननी पड़ती। यदि सत्तर पीढ़ियों से शस्त्र की सूरत न देखने पर
ी लोग क्षत्रिय होने का अभिमान करते हैं, तो पण्डित देवदत्त का उन
ाखों पर अभिमान करना अनुचित नहीं कहा जा सकता जिनमें सत्तर लाख
पयों की रक़म छिपी हुई थी।

२

वही अमावास्या की रात्रि थी। किन्तु दीपमालिका अपनी अल्प जीवनो
ामाप्त कर चुकी थी। चारों ओर जुआरिओं के लिए यह शकुन की रात्रि थी,
योंकि आज की हार साल भर की हार होती है। लक्ष्मी के आगमन की धूम
ी। कौड़ियों पर अशर्फियाँ लुट रही थीं। भट्टियों में शराब के बदले पानी
ाक रहा था। पण्डित देवदत्त के अतिरिक्त कस्बे में कोई ऐसा मनुष्य नहीं
ा, जो कि दूसरों की कमाई समेटने की धुन में न हो। आज भोर से ही
ािरिजा की अवस्था शोचनीय थी। विषम ज्वर उसे एक-एक क्षण में मूर्च्छित
र रहा था। एकाएक उसने चौंककर आँखें खोलीं और अत्यन्त क्षीण स्वर में
हा—आज तो दिवाली है।

देवदत्त ऐसा निराश हो रहा था कि गिरिजा को चैतन्य देखकर भी उसे
ानन्द नहीं हुआ। बोला—हाँ, आज दिवाली है।

गिरिजा ने आँसू-भरी दृष्टि से इधर-उधर देखकर कहा—हमारे घर में
या दीपक न जलेंगे ?

देवदत्त फूट-फूटकर रोने लगा। गिरिजा ने फिर उसी स्वर में कहा—
खो, आज बरस-बरस के दिन घर अँधेरा रह गया। मुझे उठा दो, मैं भी
ापने घर में दीये जलाऊँगी।

ये बातें देवदत्त के हृदय में चुभी जाती थीं। मनुष्य की अन्तिम घड़ी
ालसाओं और भावनाओं में व्यतीत होती है।

इस नगर में लाला शंकरदास अच्छे प्रसिद्ध वैद्य थे। अपने प्राण-संजी-

वन औषधालय में दवाओं के स्थान पर छापने का प्रेस रखे हुए थे। दवाइयाँ कम बनती थीं, किन्तु इश्तहार अधिक प्रकाशित होते थे।

वे कहा करते थे कि बीमारी केवल रईसों का ढकोसला है और पोलिटिकल एकानोमी के (राजनीतिक अर्थशास्त्र के) मतानुसार इस विलास-पदार्थ से जितना अधिक सम्भव हो टैक्स लेना चाहिए। यदि कोई निर्धन है तो हो। यदि कोई मरता है तो मरे। उसे क्या अधिकार है कि वह बीमार पड़े और मुफ्त में दवा करावे ? भारतवर्ष की यह दशा अधिकतर मुफ्त दवा कराने से हुई है। इसने मनुष्यों को असावधान और बलहीन बना दिया है। देवदत्त महीने भर से नित्य उनके निकट दवा लेने आता था ; परन्तु वैद्यजी कभी उसकी ओर इतना ध्यान नहीं देते थे कि वह अपनी शोचनीय दशा प्रकट कर सके। वैद्यजी के हृदय के कोमल भाग तक पहुँचाने के लिए देवदत्त ने बहुत कुछ हाथ-पैर चलाये। वह आँखों में आँसू भरे आता, किन्तु वैद्यजी का हृदय ठोस था, उसमें कोमल भाग था ही नहीं।

वही अमावास्या की डरावनी रात थी। गगन-मण्डल में तारे आधी रात के बीतने पर और भी अधिक प्रकाशित हो रहे थे ; मानो श्रीनगर की बुझी हुई दीवाली पर कटाक्षयुक्त आनन्द के साथ मुस्करा रहे थे। देवदत्त बेचैनी की दशा में गिरिजा के सिरहाने से उठे और वैद्यजी के मकान की ओर चले। वे जानते थे कि लालाजी बिना फ़ीस लिये कदापि नहीं आयेंगे, किन्तु हताश होने पर भी आशा पीछा नहीं छोड़ती। देवदत्त कदम आगे बढ़ाते चले जाते थे।

२

हकीमजी उस समय अपने रामबाण 'बिन्दु' का विज्ञापन लिखने में व्यस्त थे। उस विज्ञापन की भाव-प्रद भाषा तथा आकर्षण-शक्ति देखकर कह नहीं सकते कि वे वैद्य-शिरोमणि थे या सुलेखक विद्या-वारिधि—

पाठक, आप उनके उर्दू विज्ञापन का साक्षात् दर्शन कर लें—

'नाजरीन, आप जानते हैं कि मैं कौन हूँ ? आपका ज़र्द चेहरा, आपका

तने लाग़िर. आपका जरा-सी मेहनत में बेदम हो जाना, आपका लज़्ज़ात दुनिया में महरूम रहना, आपकी ख़ाना तारीकी, यह सब इस सवाल का नफ़ी में जवाब देते हैं। सुनिए, मैं कौन हूँ ? मैं वह शख़्स हूँ, जिसने इस-राज़ इन्सानी को पर्दे दुनिया से ग़ायब कर देने का बीड़ा उठाया है, जिसने इश्तिहारबाज़, जो फ़रोश, गन्दुमनुमा बने हुए हक़ीमों को बेख़र व बुन से खोदकर दुनिया को पाक कर देने का अज्म बिल् जज्म कर लिया है। मैं वह हैरतअंगेज़ इन्सान ज़ईफ़-उल-बयान हूँ जो नाशाद को दिलशाद, नामुराद को बामुराद, भगोड़े को दिलेर, गीदड़ को शेर बनाता है। और यह किसी जादू से नहीं, मंत्र से नहीं, यह मेरी ईज़ाद करदा 'अमृतबिन्दु' के अदना करिश्मे हैं। अमृतबिन्दु क्या है, इसे कुछ मैं ही जानता हूँ। महर्षि अगस्त ने धन्वन्तरि के कानों में इसका नुस्ख़ा बतलाया था। जिस वक्त आप वी० पी० पार्सल खोलेंगे, आप पर उसकी हकीक़त रौशन हो जायगी। यह आबे हयात है। यह मर्दानग़ी का ज़ौहर, फ़रज़ानगी का अक्सीर, अक़्ल का मुरब्बा, और ज़ेहन का सक़ील है। अगर वर्षों की मुशायराबाज़ी ने भी आपको शायर नहीं बनाया, अगर शबे रोज़ के रटन्त पर भी आप इम्तहान में कामयाब नहीं हो सके, अगर दल्लालों की खुशामद और मुवक्किलों की नाज़बर्दारी के बावजूद भी आप अहाते अदालत में भूखे कुत्ते की तरह चक्कर लगाते फिरते हैं, अगर आप गला फाड़ फाड़ चीख़ने, मेज़ पर हाथ-पैर पटकने पर भी अपनी तकरीर से कोई असर पैदा नहीं कर सकते, तो आप अमृतबिन्दु का इस्तेमाल कीजिए। इसका सबसे बड़ा फ़ायदा जो पहले ही दिन मालूम हो जायगा यह है कि आपकी आँखें खुल जायँगी और आप फिर कभी इश्तिहारबाज़ हकीमों के दाम फ़रेब में न फँसेंगे।'

वैद्यजी इस विज्ञापन को समाप्त कर उच्च स्वर से पढ़ रहे थे; उनके नेत्रों में उचित अभिमान और आशा झलक रही थी कि इतने में देवदत्त ने बाहर से आवाज़ दी। वैद्यजी बहुत ख़ुश हुए। रात के समय उनकी फ़ीस दुगुनी थी। लालटेन लिये बाहर निकले तो देवदत्त रोता हुआ उनके पैरों से लिपट

गया और बोला—वैद्यजी, इस समय मुझपर दया कीजिए। गिरजा अब कोई सायत की पाहुनी है। अब आप ही उसे बचा सकते हैं। यों तो मेरे भाग्य में जो लिखा है वही होगा; किन्तु इस समय तनिक चलकर आप देख लें तो मेरे दिल की दाह मिट जायगी। मुझे धैर्य हो जायगा कि उसके लिए मुझ से जो कुछ हो सकता था, मैंने किया। परमात्मा जानता है कि मैं इस योग्य नहीं हूँ कि आपकी कुछ सेवा कर सकूँ, किन्तु जब तक जीऊँगा आपका यश गाऊँगा और आपके इशारों का गुलाम बना रहूँगा।

हकीमजी को पहले कुछ तरस आया किन्तु वह जुगनू की चमक थी जो शीघ्र स्वार्थ के विशाल अन्धकार में विलीन हो गई।

४

वही अमावास्या की रात्रि थी। वृक्षों पर भी सन्नाटा छा गया था। जीतनेवाले अपने बच्चों को नींद से जगाकर इनाम देते थे। हारनेवाले अपनी रुष्ट और क्रोधित स्त्रियों से क्षमा के लिए प्रार्थना कर रहे थे। इतने में घण्टों के लगातार शब्द वायु और अन्धकार को चीरते हुए कान में आने लगे। उनकी सुहावनी ध्वनि इस निस्तब्ध अवस्था में अत्यन्त भली प्रतीत होती थी। यह शब्द समीप हो गये और अन्त में पण्डित देवदत्त के समीप आकर उनके खँडहर में डूब गये। पण्डितजी उस समय निराशा के अथाह समुद्र में गोते खा रहे थे। शोक में इस योग्य भी नहीं थे कि प्राणों से भी अधिक प्यारी गिरिजा की दवा-दरपन कर सकें। क्या करें? इस निष्ठुर वैद्य को यहाँ कैसे लावें?—ज़ालिम, मैं सारी उमर तेरी गुलामी करता। तेरे इश्तहार छापता। तेरी दवाइयाँ कूटता। आज पण्डितजी को यह ज्ञात हुआ है कि सत्तर लाख की चिट्ठी-पत्रियाँ इतनी कौड़ियों के मोल भी नहीं। पैतृक प्रतिष्ठा का अहंकार अब आँखों से दूर हो गया। उन्होंने उस मखमली थैले को सन्दूक से बाहर निकाला और उन चिट्ठी-पत्रियों को, जो बाप-दादों की कमाई का शेषांश थीं और प्रतिष्ठा की भाँति जिनकी रक्षा की जाती थी, एक एक करके दिया को अर्पण करने लगे। जिस तरह सुख और आनन्द से

पालित शरीर चिता की भेंट हो जाता है, उसी प्रकार यह कागजी पुतलियाँ भी उस प्रज्ज्वलित दिया के धधकते हुए मुँह का ग्रास बनती थीं। इतने में किसी ने बाहर से पण्डित को पुकारा। उन्होंने चौंककर सिर उठाया। वे नींद से, अँधेरे में टटोलते हुए दरवाज़े तक आये। देखा कि कई आदमी हाथ में मशाल लिये हुए खड़े हैं और एक हाथी अपने सूँड़ से उन एरण्ड के वृक्षों को उखाड़ रहा है, जो द्वार पर द्वारपालों की भाँति खड़े थे। हाथी पर एक सुन्दर युवक बैठा है, जिसके सिर पर केसरिया रङ्ग की रेशमी पाग है। माथे पर अर्धचंद्राकार चंदन, भाले की तरह तनी हुई नोकदार मोछें, मुखार-विन्द से प्रभाव और प्रकाश टपकता हुआ, कोई सरदार मालूम पड़ता था। उसका कलीदार अँगरखा और चुनावदार पैजामा, कमर में लटकती हुई तलवार, और गर्दन में सुनहरे कंठे और जंजीर उसके सजीले शरीर पर अत्यन्त शोभा पा रहे थे। पण्डितजी को देखते ही उसने रकाब पर पैर रखा और नीचे उतरकर उनकी वन्दना की। उसके इस विनीत भाव से कुछ लज्जित होकर पण्डितजी बोले—आपका आगमन कहाँ से हुआ?

नवयुवक ने बड़े नम्र शब्दों में जवाब दिया। उसके चेहरे से भलमन-साहत बरसती थी—मैं आपका पुराना सेवक हूँ। दास का घर राजनगर है। मैं वहाँ का ज़ागीरदार हूँ। मेरे पूर्वजों पर आपके पूर्वजों ने बड़े अनुग्रह किये हैं। मेरी इस समय जो कुछ प्रतिष्ठा तथा सम्पदा है, सब आपके पूर्वजों की कृपा और दया का परिणाम है। मैंने अपने अनेक स्वजनों से आपका नाम सुना था और मुझे बहुत दिनों से आपके दर्शनों की आकांक्षा थी। आज वह सुअवसर भी मिल गया। अब मेरा जन्म सफल हुआ।

पण्डित देवदत्त की आँखों में आँसू भर आवे। पैतृक प्रतिष्ठा का अभि-मान उनके हृदय का कोमल भाग था।

वह दीनता जो उनके मुख पर छाई हुई थी, थोड़ी देर के लिए बिदा हो गई। वे गम्भीर भाव धारण करके बोले—यह आपका अनुग्रह है जो ऐसा कहते हैं। नहीं तो मुझ जैसे कपूत में तो इतनी भी योग्यता नहीं है जो अपने

को उन लोगों की सन्तति कह सकूँ। इतने में नौकरों ने आँगन में फ़र्श बिछा दिया। दोनों आदमी उस पर बैठे और बातें होने लगीं, वे बातें जिनका प्रत्येक शब्द पंडितजी के मुख को इस तरह प्रफुल्लित कर रहा था जिस तरह प्रातःकाल की वायु फूलों को खिला देती है। पण्डितजी के पितामह ने नव-युवक ठाकुर के पितामह को पचीस सहस्र रुपये क़र्ज़ दिये थे। ठाकुर अब गया में जाकर अपने पूर्वजों का श्राद्ध करना चाहता था, इसलिए जरूरी था कि उसके जिम्मे जो कुछ ऋण हो, उसकी एक एक कौड़ी चुका दी जाय। ठाकुर को पुराने बही-खाते में यह ऋण दिखाई दिया। पच्चीस के अब पचहत्तर हज़ार हो चुके थे। वही ऋण चुका देने के लिए ठाकुर आया था। धर्म ही वह शक्ति है जो अन्तःकरण में ओजस्वी विचारों को पैदा करती है। हाँ, इस विचार को कार्य्य में लाने के लिए एक पवित्र और बलवान् आत्मा की आवश्य-कता है। नहीं तो वे ही विचार क्रूर और पापमय हो जाते हैं। अन्त में ठाकुर ने पूछा—आपके पास तो वे चिट्ठियाँ होंगी?

देवदत्त का दिल बैठ गया। वे सँभलकर बोले—सम्भवतः हों। कुछ कह नहीं सकते।

ठाकुर ने लापरवाही से कहा—ढूँढ़िए, यदि मिल जायँ तो हम लेते जायँगे।

पण्डित देवदत्त उठे, लेकिन हृदय ठंडा हो रहा था। शंका होने लगी कि कहीं भाग्य हरे बाग़ न दिखा रहा हो। कौन जाने वह पुर्जा जलकर राख हो गया या नहीं। यदि न मिला तो रुपये कौन देता है। शोक कि दूध का प्याला सामने आकर हाथ से छूटा जाता है!—हे भगवान्! वह पत्री मिल जाय। हमने अनेक कष्ट पाये हैं, अब हम पर दया करो। इस प्रकार आशा और निराशा की दशा में देवदत्त भीतर गये और दीआ के टिमटिमाते हुए प्रकाश में बचे हुए पत्रों को उलट-पुलटकर देखने लगे। वे उछल पड़े और उमङ्ग में भरे हुए पागलों की भाँति आनन्द की अवस्था में दो-तीन बार कूदे। तब दौड़कर गिरिजा को गले से लगा लिया, और बोले—प्यारी, यदि ईश्वर ने चाहा तो तू अब बच जायगी। इस उन्मत्तता में उन्हें

एकदम यह नहीं जान पड़ा कि 'गिरिजा' अब वहाँ नहीं है, केवल उसकी लोथ है।

देवदत्त ने पत्री को उठा लिया और द्वार तक वे इस तेज़ी से आये मानों पाँवों में पर लग गये। परन्तु यहाँ उन्होंने अपने को रोका और हृदय में आनन्द की उमड़ती हुई तरंग को रोककर कहा—यह लीजिए, वह पत्री मिल गई। संयोग की बात है, नहीं तो सत्तर लाख के काग़ज़ दीमकों के आहार बन गये!

आकस्मिक सफलता में कभी कभी सन्देह बाधा डालता है। जब ठाकुर ने उस पत्री के लेने को हाथ बढ़ाया तो देवदत्त को संदेह हुआ कि कहीं वह उसे फाड़कर फेंक न दे। यद्यपि यह सन्देह निरर्थक था, किन्तु मनुष्य कम-ज़ोरियों का पुतला है। ठाकुर ने उनके मन के भाव को ताड़ लिया। उसने बेपरवाही से पत्री को लिया और मशाल के प्रकाश में देखकर कहा—अब मुझे विश्वास हुआ। यह लीजिए, आपका रुपया आप के समक्ष है, आशी-र्वाद दीजिए कि मेरे पूर्वजों की मुक्ति हो जाय।

यह कहकर उसने अपनी कमर से एक थैला निकाला और उसमें से एक एक हज़ार के पचहत्तर नोट निकालकर देवदत्त को दे दिये। पण्डितजी का हृदय बड़े वेग से धड़क रहा था। नाड़ी तीव्र गति से कूद रही थी। उन्होंने चारों ओर चौकन्नी दृष्टि से देखा कि कहीं कोई दूसरा तो नहीं खड़ा है और तब काँपते हुए हाथों से नोटों को ले लिया। अपनी उच्चता प्रकट करने की व्यर्थ चेष्टा में उन्होंने नोटों की गणना भी नहीं की। केवल उड़ती हुई दृष्टि से देखकर उन्हें समेटा और जेब में डाल लिया।

५

वही अमावास्या की रात्रि थी। स्वर्गीय दीपक भी धुँधले हो चले थे। उनकी यात्रा सूर्यनारायण के आने की सूचना दे रही थी। उदयाचल फ़िरोज़ा बाना पहन चुका था। अस्ताचल में भी हलके श्वेत रङ्ग की आभा दिखाई दे रही थी। पण्डित देवदत्त ठाकुर को बिदा करके घर में चले। उस समय उनका

हृदय उदारता के निर्मल प्रकाश से प्रकाशित हो रहा था। कोई प्रार्थी उस समय उनके घर से निराश नहीं जा सकता था। सत्यनारायण की कथा धूम-धाम से सुनने का निश्चय हो चुका था। गिरिजा के लिए कपड़े और गहने के विचार ठीक हो गये। अन्तःपुर में ही उन्होंने शालिग्राम के सम्मुख मनसा-वाचा-कर्मणा सिर झुकाया और तब शेष चिट्ठी-पत्रियों को समेटकर उसी मखमली थैले में रख दिया। किन्तु अब उनका यह विचार नहीं था कि संभवतः उन मुर्दों में भी कोई जीवित हो उठे। वरन् जीविका से निश्चित हो अब वे पैतृक प्रतिष्ठा पर अभिमान कर सकते थे। उस समय वे धैर्य्य और उत्साह के नशे में मस्त थे। बस, अब मुझे ज़िन्दगी में अधिक सम्पदा की ज़रूरत नहीं। ईश्वर ने मुझे इतना दे दिया है। इसमें मेरी और गिरिजा की ज़िन्दगी आनन्द से कट जायगी। उन्हें क्या ख़बर थी कि गिरिजा की ज़िन्दगी पहले कट चुकी है। उनके दिल में यह विचार गुदगुदा रहा था कि जिस समय गिरिजा इस आनन्द-समाचार को सुनेगी उस समय अवश्य उठ बैठेगी। चिन्ता और कष्ट ने ही उसकी ऐसी दुर्गति बना दी है। जिसे भर पेट कभी रोटी नसीब न हुई, जो कभी नैराश्यमय धैर्य्य और निर्धनता के हृदय-विदारक बन्धन से मुक्त न हुई, उसकी दशा इसके सिवा और हो ही क्या सकती है ? यह सोचते हुए वे गिरिजा के पास गये और आहिस्ता से हिला-कर बोले—गिरिजा, आँखें खोलो। देखो, ईश्वर ने तुम्हारी बिनती सुन ली और हमारे ऊपर दया की। कैसी तबीयत है ?

किन्तु जब गिरिजा तनिक भी न मिनकी तब उन्होंने चादर उठा दी और उसके मुँह की ओर देखा। हृदय से एक करुणात्मक ठण्डी आह निकली। वे वहीं सर थामकर बैठ गये। आँखों से शोणित की बूँदें टपक पड़ीं। आह ! क्या यह सम्पदा इतने मँहगे मूल्य पर मिली है ? क्या परमात्मा के दरबार से मुझे इस प्यारी जान का मूल्य दिया गया है ? ईश्वर, तुम ख़ूब न्याय करते हो ! मुझे गिरिजा की आवश्यकता है, रुपयों की आवश्यकता नहीं। यह सौदा बड़ा मँहगा है।

६

अमावास्या की अँधेरी रात गिरिजा के अन्धकारमय जीवन की भाँति समाप्त हो चुकी थी। खेतों में हल चलानेवाले किसान ऊँचे और सुहावने स्वर से गा रहे थे। सर्दी से काँपते हुए बच्चे सूर्य्य-देवता से बाहर निकलने की प्रार्थना कर रहे थे। पनघट पर गाँव की अलबेली स्त्रियाँ जमा हो गई थीं। पानी भरने के लिए नहीं; हँसने के लिए। कोई घड़े को कुएँ में डाले हुए अपनी पोपली सास की नकल कर रही थी, कोई खम्भों से चिपटी हुई अपनी सहेली से मुसकुराकर प्रेम-रहस्य की बातें करती थी। बूढ़ी स्त्रियाँ पोतों को गोद में लिये अपनी बहुओं को कोस रही थीं कि घण्टे-भर हुए अब तक कुएँ से नहीं लौटीं। किन्तु राजवैद्य लाला शंकरदास अभी तक मीठी नींद ले रहे थे। खाँसते हुए बच्चे और कराहते हुए बूढ़े उनके औषधालय के द्वार पर जमा हो चले थे। इस भीड़-भड़भड़ से कुछ दूर पर दो-तीन सुन्दर किन्तु मुर्झाये हुए नवयुवक टहल रहे थे और वैद्यजी से एकान्त में कुछ बातें किया चाहते थे। इतने में पण्डित देवदत्त नंगे सर, नंगे बदन, लाल आँखें, डरावनी सूरत, काग़ज़ का एक पुलिन्दा लिये दौड़ते हुए आये और औषधालय के द्वार पर इतने ज़ोर से हाँक लगाने लगे कि वैद्यजी चौंक पड़े और कहार को पुकारकर बोले कि दरवाज़ा खोल दे। कहार महात्मा बड़ी रात गये किसी बिरादरी की पंचायत से लौटे थे। उन्हें दीर्घ-निद्रा का रोग था जो वैद्यजी के लगातार भाषण और फटकार की औषधियों से भी कम न होता था। आप ऐंठते हुए उठे और किवाड़ खोलकर हुक्का-चिलम की चिन्ता में आग ढूँढने चले गये। हकीमजी उठने की चेष्टा कर रहे थे कि सहसा देवीदत्त उनके सम्मुख जाकर खड़े हो गये और नोटों का पुलिन्दा उनके आगे पटककर बोले—वैद्यजी, ये पचहत्तर हज़ार के नोट हैं। यह आपका पुरस्कार और आपकी फ़ीस है। आप चलकर गिरिजा को देख लीजिए, और ऐसा कुछ कीजिए कि वह केवल एक बार आँखें खोल दे। यह उसकी एक दृष्टि पर न्योछावर है,—केवल एक दृष्टि पर। आपको रुपये मनुष्य की जान से प्यारे हैं। वे आपके समक्ष

हैं। मुझे गिरिजा की एक चितवन इन रुपयों से कई गुनी प्यारी है।

वैद्यजी ने लज्जामय सहानुभूति से देवीदत्त की ओर देखा और केवल इतना कहा—मुझे अत्यन्त शोक है, मैं सदैव के लिए तुम्हारा अपराधी हूँ। किन्तु तुमने मुझे शिक्षा दे दी। ईश्वर ने चाहा तो अब ऐसी भूल कदापि न होगी। मुझे शोक है। सचमुच महाशोक है।

ये बातें वैद्यजी के अन्तःकरण से निकली थीं।

ममता

१

बाबू रामरक्षादास दिल्ली के ऐश्वर्यशाली खत्री थे, बहुत ही ठाट-बाट से रहनेवाले। बड़े-बड़े अमीर उनके यहाँ नित्य आते थे। वे आये हुओं का आदर-सत्कार ऐसे अच्छे ढंग से करते थे कि इस बात की धूम सारे महल्ले में थी। नित्य उनके दरवाज़े पर किसी न किसी बहाने से इष्ट-मित्र इकट्ठा हो जाते, टेनिस खेलते, ताश उड़ता, हारमोनियम के मधुर स्वरों से जी बहलाते, चाय-पानी से हृदय प्रफुल्लित करते और अपने उदार मित्र के व्यवहार की प्रशंसा करते। बाबू साहब दिन-भर में इतने रंग बदलते थे कि उन पर 'पेरिस' की 'परियों' को भी ईर्षा हो सकती थी। कई बैंकों में उनके हिस्से थे। कई दूकानें थीं। किन्तु बाबू साहब को इतना अवकाश न था कि उनकी कुछ देख-भाल करते। अतिथि-सत्कार एक पवित्र धर्म है। वे सच्ची देशहितैषिता की उमंग में कहा करते थे—अतिथि-सत्कार आदिकाल से भारतवर्ष के निवासियों का एक प्रधान और सराहनीय गुण है। अभ्यागतों का आदर-सम्मान करने में हम अद्वितीय हैं। हम इसी से संसार में मनुष्य कहलाने योग्य हैं। हम सब कुछ खो बैठे हैं, किन्तु जिस दिन हममें यह गुण शेष न रहेगा, वह दिन हिन्दू जाति के लिए लज्जा, अपमान और मृत्यु का दिन होगा।

मिस्टर रामरक्षा जातीय आवश्यकताओं में भी बेपरवाह न थे। वे सामाजिक और राजनीतिक कार्य्यों में पूर्ण रूप से योग देते थे। यहाँ तक कि प्रति वर्ष दो बल्कि कभी-कभी तीन वक्तृताएँ अवश्य तैयार कर लेते। भाषणों की भाषा अत्यन्त उपयुक्त, ओजस्विनी और सर्वांगसुन्दर होती थी। उपस्थित जन और इष्ट-मित्र उनके एक-एक शब्द पर प्रशंसासूचक शब्दों की ध्वनि

प्रकट करते, तालियाँ बजाते, यहाँ तक कि बाबू साहब को व्याख्यान का क्रम स्थिर रखना कठिन हो जाता। व्याख्यान समाप्त होने पर उनके मित्र उन्हें गोद में उठा लेते, और आश्चर्यचकित होकर कहते—तेरी भाषा में जादू है। इससे अधिक और क्या चाहिए? जाति की ऐसी अमूल्य सेवा कोई छोटी बात नहीं है। नीची जातियों के सुधार के लिए दिल्ली में एक सोसायटी थी। बाबू साहब उसके सेक्रेटरी थे, और इस कार्य्य को असाधारण उत्साह से पूर्ण करते थे। जब उनका बूढ़ा कहार बीमार हुआ और क्रिश्चियन मिशन के डाक्टरों ने उनकी सुश्रूषा की, तथा जब उसकी विधवा स्त्री ने निर्वाह की कोई आशा न देखकर क्रिश्चियन-समाज का आश्रय लिया, तब इन दोनों अवसरों पर बाबू साहब ने शोक के रेज़ोल्यूशन पास किये। संसार जानता है कि सेक्रेटरी का काम सभाएँ करना और रेज़ोल्यूशन बनाना है। इससे अधिक वह कुछ नहीं कर सकता।

मिस्टर रामरक्षा का जातीय उत्साह यहीं तक सीमाबद्ध न था। वे सामाजिक कुप्रथाओं तथा अन्धविश्वास के प्रबल शत्रु थे। होली के दिनों में जब कि मुहल्ले के चमार और कहार शराब से मतवाले होकर फाग गाते और डफ़ बजाते हुए निकलते तो उन्हें बड़ा शोक होता। जाति की इस मूर्खता पर उनकी आँखों में आँसू भर आते, और वे प्रायः इस कुरीति का निवारण अपने हण्टर से किया करते! उनके हण्टर में, जतिहितैषिता की उमङ्ग उनकी वक्तृता से अधिक थी। उन्हीं के प्रशंसनीय प्रयत्न थे जिन्होंने मुख्य होली के दिन दिल्ली में हलचल मचा दी, फाग गाने के अपराध में हज़ारों आदमी पुलिस के पंजे में आ गये। सैकड़ों घरों में मुख्य होली के दिन मुहर्रम का-सा शोक फैल गया। उधर उनके दरवाज़े पर हज़ारों पुरुष और स्त्रियाँ अपना दुखड़ा रो रही थीं, इधर बाबूसाहब के हितैषी मित्रगण उनकी इस उच्च और निःस्पृह समाज-सेवा पर हार्दिक धन्यवाद दे रहे थे। सारांश यह कि बाबूसाहब का यह जातीय-प्रेम और उद्योग केवल बनावटी, सहृदयता-शून्य, तथा फैशनेबिल था। हाँ, यदि उन्होंने किसी सदुद्योग में

भाग लिया था तो वह सम्मिलित कुटुम्ब का विरोध था। अपने पिता के देहान्त के पश्चात् वे अपनी विधवा माँ से अगल हो गये थे। इस जातीय सेवा में उनकी स्त्री विशेष सहायक थी। विधवा माँ अपने बेटे और बहू के साथ नहीं रह सकती। इससे बहू की स्वाधीनता में विघ्न पड़ता है, और स्वाधीनता में विघ्न पड़ने से मन दुर्बल और मस्तिष्क शक्तिहीन हो जाता है। बहू को जलाना और कुढ़ाना सास की आदत है। इसलिए, बाबू रामरक्षा अपनी माँ से अलग हो गये। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने मातृ-ऋण का विचार करके दस हज़ार रुपये अपनी माँ के नाम जमा कर दिये कि उसके ब्याज से उसका निर्वाह होता रहे। किन्तु बेटे के इस उत्तम आचरण पर माँ का दिल ऐसा टूटा कि वह दिल्ली छोड़कर अयोध्या जा रही। तब से वहीं रहती है। बाबूसाहब कभी कभी मिसेज़ रामरक्षा से छिपकर उससे मिलने अयोध्या जाया करते थे, किन्तु वह दिल्ली आने का कभी नाम न लेती। हाँ यदि कुशल-क्षेम की चिट्ठी पहुँचने में कुछ देर हो जाती तो विवश होकर समाचार पूछ लेती थी।

उसी महल्ले में एक सेठ गिरधारीलाल रहते थे। उनका लाखों का लेन-देन था। वे हीरे और रत्नों का व्यापार करते थे। बाबू रामरक्षा के दूर के नाते में साढू होते थे। पुराने ढंग के आदमी थे—प्रातःकाल यमुना स्नान करनेवाले, गाय को अपने हाथों से झाड़ने-पोंछनेवाले। उनसे मिस्टर रामरक्षा का स्वभाव न मिलता था, परन्तु जब कभी रुपयों की आवश्यकता होती तो वे सेठ गिरधारीलाल के यहाँ से बेखटके मँगा लिया करते। आपस का मामला था, केवल चार अंगुल के पत्र पर रुपया मिल जाता था, न कोई दस्तावेज़, न स्टाम्प, न साक्षियों की आवश्यकता। मोटरकार के लिए दस हज़ार की आवश्यकता हुई, वह वहाँ से आया। घुड़दौड़ के लिए एक आस्ट्रेलियन घोड़ा डेढ़ हज़ार में लिया, उसके लिए भी रुपया सेठजी के यहाँ से आया। धीरे धीरे कोई बीस हज़ार का मामला हो गया। सेठजी सरल हृदय के आदमी थे। समझते थे कि उसके पास दूकानें हैं। बैंकों में रुपया है।

जब जी चाहेगा रुपया वसूल कर लेंगे, किन्तु जब दो-तीन वर्ष व्यतीत हो गये, और सेठजी के तकाजों की अपेक्षा मिस्टर रामरक्षा की माँग ही का आधिक्य रहा, तो गिरधारीलाल को सन्देह हुआ। वह एक दिन रामरक्षा के मकान पर आये और सभ्य भाव से बोले—भाई साहब, मुझे एक हुण्डी का रुपया देना है, यदि आप मेरा हिसाब कर दें तो बहुत अच्छा हो। यह कह-कर हिसाब का काग़ज़ और उनके पत्र दिखलाये। मिस्टर रामरक्षा किसी गार्डन पार्टी में सम्मिलित होने के लिए तैयार थे। बोले—इस समय क्षमा कीजिए। फिर देख लूँगा, जल्दी क्या है ?

गिरधारीलाल को बाबू साहब की रुखाई पर क्रोध आ गया। वे रुष्ट होकर बोले—आपको जल्दी नहीं है, मुझे तो है। दो सौ रुपये मासिक की मेरी हानि हो रही है। मिस्टर रामरक्षा ने असन्तोष प्रकट करते हुए घड़ी देखी। पार्टी का समय बहुत करीब था। वे बहुत विनीत भाव से बोले—भाई साहब, मैं बड़ी जल्दी में हूँ। इस समय मेरे ऊपर कृपा कीजिए। मैं कल स्वयं उपस्थित हूँगा।

सेठजी एक माननीय और धनसम्पन्न आदमी थे। वे रामरक्षा के इस कुरुचिपूर्ण व्यवहार पर जल गये। मैं इनका महाजन, इनसे धन में, मान में ऐश्वर्य में, बढ़ा हुआ। चाहूँ तो ऐसों को नौकर रख लूँ। इनके दरवाज़े पर आऊँ, और आदर-सत्कार की जगह उल्टे ऐसा रूखा बर्ताव ? वह हाथ बाँधे मेरे सामने न खड़ा रहे, किन्तु क्या मैं पान इलाइची इत्र आदि से भी सम्मान करने के योग्य नहीं ? वे तिनककर बोले—अच्छा तो कल हिसाब साफ़ हो जाय।

रामरक्षा ने अकड़कर उत्तर दिया—हो जायगा।

रामरक्षा के गौरवशाली हृदय पर सेठजी के इस बर्ताव का प्रभाव कुछ कम खेदजनक न हुआ। इस काठ के कुन्दे ने आज मेरी प्रतिष्ठा धूल में मिला दी। वह मेरा अपमान कर गया। अच्छा तुम भी इसी दिल्ली में रहते हो और हम भी यहीं हैं। निदान दोनों में गाँठ पड़ गई। बाबू साहब की तबी-

यत ऐसी गिरी और हृदय में ऐसी चिन्ता उत्पन्न हुई कि पार्टी में जाने का ध्यान जाता रहा। वे देर तक इसी उलझन में पड़े रहे। फिर सूट उतार दिया, और सेवक से बोले—जा, मुनीमजी को बुला ला। मुनीमजी आये। उनका हिसाब देखा गया, फिर बैंकों का एकाउण्ट देखा। किन्तु ज्यों ज्यों इस घाटी में उतरते गये, त्यों त्यों अँधेरा बढ़ता गया। बहुत कुछ टटोला, कुछ हाथ न आया। अन्त में निराश होकर वे आराम-कुर्सी पर पड़ गये, और उन्होंने एक ठण्डी साँस ले ली। दूकानों का माल बिका, किन्तु रुपया बकाया में पड़ा हुआ था। कई ग्राहकों की दूकानें टूट गईं और उन पर जो नक़द रुपया बक़ाया था, वह डूब गया। कलकत्ते के आढ़तियों से जो माल मँगाया था, रुपये चुकाने की तिथि सिर पर आ पहुँची और यहाँ रुपया वसूल न हुआ। दूकानों का यह हाल, बैंकों का इससे भी बुरा। रात-भर वे इन्हीं चिन्ताओं में करवटें बदलते रहे। अब क्या करना चाहिए? गिरधारीलाल सज्जन पुरुष हैं। यदि सारा कच्चा हाल उसे सुना दूँ तो अवश्य माना जायगा। किन्तु यह कष्टप्रद कार्य्य होगा कैसे? ज्यों ज्यों प्रातःकाल समीप आता था, त्यों त्यों उनका दिल बैठा जाता था। कच्चे विद्यार्थी की जो दशा परीक्षा के सन्निकट आने पर होती है, वही हाल इस समय रामरक्षा का था। वे पलंग से न उठे। मुँह-हाथ भी न धोया, खाने को कौन कहे। इतना जानते थे कि दुख पड़ने पर कोई किसी का साथी नहीं होता। इसलिए एक आपत्ति से बचने के लिए कहीं कई आपत्तियों का बोझा न उठाना पड़े। मित्रों को इन मामलों की ख़बर तक न दी। जब दोपहर हो गया और उनकी दशा ज्यों की त्यों रही तो उनका छोटा लड़का बुलाने आया। उसने बाप का हाथ पकड़-कर कहा—लालाजी, आज काने क्यों नहीं तलते?

रामरक्षा—भूख नहीं है।

'क्या काया है?'

'मन की मिठाई।'

'और क्या काया है?'

'मार।'

'किचने मारा ?'

'गिरधारीलाल ने।'

लड़का रोता हुआ घर में गया, और इस मार की चोट से देर तक रोता रहा। अन्त में तश्तरी में रखी हुई दूध की मलाई ने उसकी इस चोट पर मरहम का काम किया।

रोगी को जब जीने की आस नहीं रहती तो औषधि छोड़ देता है। मि० रामरक्षा जब इस गुत्थी को न सुलझा सके, तो चादर तान ली और मुँह लपेटकर सो रहे। शाम को एकाएक उठकर सेठजी के यहाँ जा पहुँचे और कुछ असावधानी से बोले—महाशय, मैं आपका हिसाब नहीं कर सकता।

सेठजी घबराकर बोले—क्यों ?

रामरक्षा—इसलिए कि मैं इस समय दरिद्र हूँ। मेरे पास एक कौड़ी भी नहीं है। आप अपना रुपया जैसे चाहें वसूल कर लें।

सेठ—यह आप कैसी बातें कहते हैं ?

रामरक्षा—बहुत सच्ची।

सेठ—दुकानें नहीं हैं ?

रामरक्षा—दूकानें आप मुफ़्त ले जाइए।

सेठ—बैंक के हिस्से ?

रामरक्षा—वह कब के उड़ गये।

सेठ—जब यह हाल था तो आपको उचित नहीं था कि मेरे गले पर छुरी फेरते।

रामरक्षा—(अभिमान से) मैं आपके यहाँ उपदेश सुनने के लिए नहीं आया हूँ।

यह कहकर मि० रामरक्षा वहाँ से चल दिये। सेठजी ने तुरन्त नालिश कर दी। बीस हज़ार मूल, पाँच हज़ार ब्याज। डिगरी हो गई। मकान नीलाम पर चढ़ा। पन्द्रह हज़ार की जायदाद पाँच हज़ार में निकल गई। दस

हज़ार का मोटर चार हज़ार में बिका। सारी सम्पत्ति उड़ जाने पर कुल मिलाकर सोलह हज़ार से अधिक रकम न खड़ी हो सकी। सारी गृहस्थी नष्ट हो गई, तब भी दस हज़ार के ऋणी रह गये। मान-बड़ाई धन-दौलत, सब मिट्टी में मिल गये। बहुत तेज़ दौड़नेवाला मनुष्य प्रायः मुँह के बल गिर पड़ता है।

४

इस घटना के कुछ दिनों पश्चात् दिल्ली म्युनिसिपेल्टी के मेम्बरों का चुनाव आरम्भ हुआ। इस पद के अभिलाषी वोटरों की पूजाएँ करने लगे। दलालों के भाग्य उदय हुए। सम्मतियाँ मोतियों की तौल बिकने लगीं। उम्मेदवार मेम्बरों के सहायक अपने मुवक्किल के गुण-गान करने लगे। चारों ओर चहल-पहल मच गई। एक वकील महाशय ने भरी सभा में अपने मुवक्किल साहब के विषय में कहा—

'मैं जिस बुजुर्ग का पैरोकार हूँ, वह कोई मामूली आदमी नहीं है। यह वह शख्स है जिसने अपने फरजन्द अकबर की शादी में पचीस हज़ार रुपया सिर्फ़ रक़्स व सरूर में सर्फ़ कर दिया था।'

उपस्थित जनों में प्रशंसा की उच्च ध्वनि हुई।

एक दूसरे महाशय ने अपने मुहाल के वोटरों के सम्मुख अपने मुवक्किल की प्रशंसा यों की—

'मैं यह नहीं कहता कि आप सेठ गिरधारीलाल को अपना मेम्बर बनाइए। आप अपना भला-बुरा स्वयं समझते हैं। और यह भी नहीं है कि सेठजी मेरे द्वारा अपनी प्रशंसा के भूखे हों। मेरा निवेदन केवल यही है कि आप जिसे मेम्बर बनायें, पहले उसके गुण-दोषों का भली-भाँति परिचय ले लें। दिल्ली में केवल एक आदमी है कि जिसने पानी पहुँचाने और स्वच्छता के प्रबन्धों में हार्दिक धर्म्मभाव से सहायता दी है। केवल एक पुरुष है जिसको श्रीमान् वायसराय के दरबार में कुर्सी पर बैठने का अधिकार प्राप्त है और आप सब महाशय उसे जानते हैं।'

उपस्थित जनों ने तालियाँ बजाईं।

सेठ गिरधारीलाल के मुहल्ले में उनके एक प्रतिवादी थे। नाम था मुंशी फैजुल रहमान खाँ। बड़े ज़मींदार और प्रसिद्ध वकील थे। बाबू रामरक्षा ने अपनी दृढ़ता, साहस, बुद्धिमत्ता, और मृदु भाषण से मुन्शी साहब की सेवा करनी आरम्भ की। सेठजी को परास्त करने का यह अपूर्व अवसर हाथ आया। वे रात और दिन इसी धुन में रहते। उनकी मीठी और रोचक बातों का प्रभाव उपस्थित जनों पर बहुत ही अच्छा पड़ता। एक बार आपने असाधारण श्रद्धा की उमङ्ग में आकर कहा—मैं डंके की चोट कहता हूँ कि मुंशी फैजुल रहमान से अधिक योग्य आदमी आपको दिल्ली में न मिल सकेगा। यह वह आदमी है जिसकी ग़ज़लों पर कवि-जनों में वाह-वाह मच जाती है। ऐसे श्रेष्ठ आदमी की सहायता करना मैं अपना जातीय और सामाजिक धर्म समझता हूँ। अत्यन्त शोक का विषय है कि बहुत से लोग इस जातीय और पवित्र काम को व्यक्तिगत लाभ का साधन बना लेते हैं। धन और वस्तु है, श्रीमान् वायसराय के दरबार में प्रतिष्ठित होना और वस्तु। किन्तु सामाजिक सेवा, जातीय चाकरी और ही चीज़ है और वह मनुष्य जिसका जीवन ब्याज-प्राप्ति, बेईमानी, कठोरता तथा निर्दयता और सुख-विलास में व्यतीत होता हो, वह इस सेवा के योग्य कदापि नहीं है।

४

सेठ गिरधारीलाल इस अन्योक्ति-पूर्ण भाषण का हाल सुनकर क्रोध से आग हो गये। मैं बेईमान हूँ! ब्याज का धन खानेवाला हूँ! विषयी हूँ! कुशल हुई, जो तुमने मेरा नाम नहीं लिया। किन्तु अब भी तुम मेरे हाथ में हो, मैं अब भी तुम्हें जिस तरह चाहूँ नचा सकता हूँ। खुशामदियों ने आग पर तेल डाला। इधर रामरक्षा अपने काम में तत्पर रहे। यहाँ तक कि 'वोटिंग डे' आ पहुँचा। मिस्टर रामरक्षा को अपने उद्योग में बहुत कुछ सफलता प्राप्त हुई थी। आज उसको जान पड़ेगा कि धन संसार के सब पदार्थों को इकट्ठा नहीं कर सकता। जिस समय फ़ैजुल रहमान के वोट

अधिक निकलेंगे और मैं तालियाँ बजाऊँगा, उस समय गिरधारीलाल का चेहरा देखने योग्य होगा। मुँह का रंग बदल जायगा, हवाइयाँ उड़ने लगेंगी, आँखें न मिला सकेगा—शायद फिर मुझे मुँह न दिखा सके। इन्हीं विचारों में मग्न रामरक्षा शाम को टाउन-हाल में पहुँचे। उपस्थित सभ्यों ने बड़ी उमङ्ग के साथ उनका स्वागत किया। थोड़ी देर बाद 'वोटिङ्ग' आरम्भ हुआ। मेम्बरी मिलने की आशा रखनेवाले महानुभाव अपने अपने भाग्य का अन्तिम फल सुनने के लिए आतुर हो रहे थे। छः बजे चेअरमैन ने फैसला सुनाया। सेठजी की हार हो गई। फैजुल रहमान ने मैदान मार लिया। रामरक्षा ने हर्ष के आवेग में टोपी हवा में उछाल दी और वे स्वयं भी कई बार उछल पड़े। महल्लेवालों को अचम्भा हुआ। चाँदनी चौक से सेठजी को हटाना मेरु को स्थान से उखाड़ना था। सेठजी के चेहरे से रामरक्षा को जितनी आशाएँ थीं, वे सब पूरी हो गईं। उनका रंग फीका पड़ गया था। वे खेद और लज्जा की मूर्ति बने हुए थे।

एक वकील साहब ने उनसे सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा—सेठजी, मुझे आपकी हार का बहुत बड़ा शोक है। मैं जानता कि यहाँ ख़ुशी के बदले रंज होगा तो कभी यहाँ न आता। मैं तो केवल आपके ख्याल से यहाँ आया था। सेठजी ने बहुत रोकना चाहा; परन्तु आँखों में आँसू डबडबा ही आये। वे निःस्पृह बनने का व्यर्थ प्रयत्न करके बोले, "वकील साहब, मुझे इसकी कुछ चिन्ता नहीं। कौन रियासत निकल गई? व्यर्थ उलझन, चिन्ता तथा झंझट रहती थी। चलो अच्छा हुआ, गला छूटा। अपने काम में हर्ज होता था। सत्य कहता हूँ, मुझे तो हृदय से प्रसन्नता ही हुई। यह काम तो बेकामवालों के लिए है, घर न बैठे रहे यही बेगार की। मेरी मूर्खता थी कि मैं इतने दिनों तक आँखें बन्द किये बैठा रहा।" परन्तु सेठजी की मुखाकृति ने इन विचारों का प्रमाण न दिया। मुख-मण्डल का हृदय का दर्पण है, इसका निश्चय अलबत्ता हो गया।

किन्तु बाबू रामरक्षा बहुत देर तक इस आनन्द का मज़ा न लूटने पाये

और न सेठजी को बदला लेने के लिए बहुत देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। सभा विसर्जित होते ही जब बाबू रामरक्षा सफलता की उमंग में ऐंठते, मोंछ पर ताव देते और चारों ओर गर्व की दृष्टि डालते हुए बाहर आये, तो दीवानी के तीन सिपाहियों ने आगे बढ़कर उन्हें गिरफ़्तारी का वारंट दिखा दिया! अब की बाबू रामरक्षा के चेहरे का रंग उतर जाने की और सेठजी के इस मनोवांछित दृश्य से आनन्द उठाने की बारी थी। गिरधारीलाल ने आनन्द की उमंग में तालियाँ तो न बजाईं परन्तु मुसकुराकर मुंह फेर लिया। रंग में भंग पड़ गया।

आज इस विजय के उपलक्ष में मुंशी फ़ैज़ुल रहमान ने पहले से एक बड़े समारोह के साथ गार्डन-पार्टी की तयारियाँ की थीं। मिस्टर रामरक्षा इसके प्रबन्धकर्ता थे। आज की 'आफ्टर डिनर स्पीच' उन्हों ने बड़े परिश्रम से तैयार की थी, किन्तु इस वारंट ने सारी कामनाओं का सत्यानाश कर दिया। यों तो बाबू साहब के मित्रों में ऐसा कोई भी न था जो दस हज़ार रुपये की जमानत दे देता, अदा कर देने का तो ज़िक्र ही क्या। किन्तु कदाचित् ऐसा होता भी तो सेठजी अपने को भाग्यहीन समझते। दस हज़ार रुपया और म्युनिसपैलिटी की प्रतिष्ठित मेम्बरी खोकर उन्हें इस समय यह हर्ष प्राप्त हुआ था।

मिस्टर रामरक्षा के घर पर ज्यों ही यह ख़बर पहुँची, कुहराम मच गया। उनकी स्त्री पछाड़ खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। जब कुछ होश में आई तो रोने लगी, और रोने से ही छुट्टी मिली तो उसने गिरधारीलाल को कोसना आरम्भ किया। देवी-देवता मनाने लगी। उन्हें रिशवतें देने पर तैयार हुई कि वे गिरधारीलाल को किसी प्रकार निगल जायँ। इस बड़े भारी काम में वह गंगा और यमुना से सहायता माँग रही थी, प्लेग और विसूचिका की खुशामदें कर रही थी कि ये दोनों मिलकर इस गिरधारीलाल को हड़प ले जायँ।—किन्तु गिरधारीलाल का कोई दोष नहीं। दोष तुम्हारा है। बहुत अच्छा हुआ। तुम इसी पूजा के देवता थे। क्या अब दावतें न खिलाओगे? मैंने तुम्हें

कितना समझाया, रोई, रूठी, बिगड़ी, किन्तु तुमने एक न सुनी। गिरधारीलाल ने बहुत अच्छा किया। तुम्हें शिक्षा तो मिल गई। किन्तु तुम्हारा भी दोष नहीं, यह सब आग मैंने लगाई है। मखमली स्लीपरों के बिना मेरे पाँव नहीं उठते थे। बिना जड़ाऊ कड़ों के मुझे नींद न आती थी। सेजगाड़ी मेरे ही लिए मँगवाई गई। अँगरेज़ी पढ़ाने के लिए मेम साहब को मैंने ही रखा। ये सब काँटे मैंने ही बोये हैं।

मिसेज़ रामरक्षा बहुत देर तक इन्हीं विचारों में डूबी रहीं। जब रात-भर करवटें बदलने के बाद सवेरे उठीं तो उनके विचार चारों ओर से ठोकरें खाकर केवल एक केन्द्र पर जम गये थे—गिरधारीलाल बड़ा बदमाश है और घमण्डी है। मेरा सब कुछ लेकर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। इतना भी उस निर्दय कसाई से न देखा गया। भिन्न भिन्न प्रकार के विचारों ने मिलकर एक रूप धारण किया और क्रोधाग्नि को दहकाकर प्रबल कर दिया। ज्वालामुखी शीशे में जब सूर्य्य की किरणें एकत्र होती हैं, तब अग्नि प्रकट हो जाती है। इस स्त्री के हृदय में रह रहकर क्रोध की एक असाधारण लहर उत्पन्न होती थी। बच्चे ने मिठाई के लिए हठ किया, उस पर बरस पड़ी। महरी ने चौका-बरतन करके चूल्हे में आग लगा दी, उसके पीछे पड़ गई—मैं तो अपने दुःखों को रो रही हूँ, इस चुड़ैल को रोटियों की धुन सवार है। निदान नौ बजे उससे न रहा गया। उसने यह पत्र लिखकर अपने हृदय की ज्वाला ठंडी की—

'सेठजी, तुम्हें अब अपने धन के घमण्ड ने अन्धा कर दिया है। किन्तु किसी का घमंड इसी तरह सदा नहीं रह सकता। कभी न कभी सिर अवश्य नीचा होता है। अफसोस कि कल शाम को जब तुमने मेरे प्यारे पति को पकड़वाया है, मैं वहाँ मौजूद न थी; नहीं तो अपना और तुम्हारा रक्त एक कर देती। तुम धन के मद में भूले हुए हो। मैं उसी दम तुम्हारा नशा उतार देती। स्त्री के हाथों अपमानित होकर तुम फिर किसी को मुँह दिखाने लायक न रहते। अच्छा, इसका बदला तुम्हें किसी न किसी तरह ज़रूर मिल

जायगा। मेरा कलेजा उस दिन ठण्डा होगा जब तुम निर्वंश हो जाओगे और तुम्हारे कुल का नाम मिट जायगा।"

सेठजी ने यह फटकार पढ़ी तो वे क्रोध से आग हो गये। यद्यपि क्षुद्र हृदय के मनुष्य न थे; परन्तु क्रोध के आवेग में सौजन्य का चिह्न भी शेष नहीं रहता। यह ध्यान रहा कि यह एक दुखिनी अबला की क्रन्दन-ध्वनि है, एक सताई हुई स्त्री का मानसिक विकार है। उसकी धनहीनता और विवशता पर उन्हें तनिक भी दया न आई। वे मरे हुए को मारने के उपाय सोचने लगे।

३

इसके तीसरे दिन सेठ गिरधारीलाल पूजा के आसन पर बैठे हुए थे कि महाराज ने आकर कहा—सरकार, कोई स्त्री आपसे मिलने आई है। सेठजी ने पूछा—कौन स्त्री है? महरा ने कहा—सरकार, मुझे क्या मालूम लेकिन हैं कोई भली मानुस। रेशमी साड़ी पहने हुए है। हाथों में सोने के कड़े हैं। पैरों में टाट के स्लीपर हैं। बड़े घर की स्त्री जान पड़ती हैं।

यों साधारणतः सेठजी पूजा के समय किसी से नहीं मिलते थे। चाहे कैसा ही आवश्यक काम क्यों न हो, ईश्वरोपासना में सामयिक बाधाओं को घुसने नहीं देते थे। किन्तु ऐसी दशा में जब कि बड़े घर की स्त्री मिलने के लिए आवे, तो थोड़ी देर के लिए पूजा में विलम्ब करना निन्दनीय नहीं कहा जा सकता। ऐसा विचार करके वे नौकर से बोले—उन्हें बुला लाओ।

जब वह स्त्री आई तो सेठजी स्वागत के लिए उठकर खड़े हो गये। तत्पश्चात् अत्यन्त कोमल वचनों से कारुणिक शब्दों में बोले, 'माता, कहाँ से आना हुआ?' और जब यह उत्तर मिला कि वह अयोध्या से आई है, तो आपने उसे फिर से दण्डवत् की, और चीनी तथा मिश्री से भी अधिक मधुर और नवनीत से भी अधिक चिकने शब्दों में कहा 'अच्छा, आप श्रीअयोध्याजी से आ रही हैं? उस नगरी का क्या कहना। देवताओं की पुरी है। बड़े भाग थे कि आपके दर्शन हुए। यहाँ आपका आगमन कैसे हुआ?' स्त्री ने उत्तर

दिया, 'घर तो मेरा यहीं है।' सेठजी का मुख पुनः मधुरता का चित्र बना। वे बोले, 'अच्छा तो मकान आपका इसी शहर में है? तो आपने माया-जंजाल को त्याग दिया? यह तो मैं पहले ही समझ गया था। ऐसी पवित्र आत्माएँ संसार में बहुत थोड़ी हैं। ऐसी देवियों के दर्शन दुर्लभ होते हैं। आपने मुझे दर्शन दिये, बड़ी कृपा की। मैं इस योग्य नहीं, जो आप जैसी विदुषिया की कुछ सेवा कर सकूँ। किन्तु जो काम मेरे योग्य हो, जो कुछ मेरे किये हो सकता हो, उसके करने के लिए मैं सब भाँति से तैयार हूँ। यहाँ सेठ-साहूकारों ने मुझे बहुत बदनाम कर रखा है। मैं सबकी आँखों में खट-कता हूँ। उसका कारण सिवा इसके और कुछ नहीं कि जहाँ वे लोग लाभ पर ध्यान रखते हैं; वहाँ मैं भलाई पर ध्यान रखता हूँ। यदि कोई बड़ी अवस्था का वृद्ध मनुष्य मुझसे कुछ कहने-सुनने के लिए आता है तो विश्वास मानो, मुझसे उसका वचन टाला नहीं जाता। कुछ तो बुढ़ापे का विचार, कुछ उसके दिल टूट जाने का डर, कुछ यह ख़याल कि कहीं यह विश्वास-घातियों के फन्दे में न फस जाय, उसकी इच्छाओं की पूर्ति के लिए विवश कर देता है। मेरा यह सिद्धान्त है कि अच्छी जायदाद और कम ब्याज। किन्तु इस प्रकार की बातें आपके सामने करना व्यर्थ है। आपसे तो घर का मामला है। मेरे योग्य जो कुछ कार्य्य हो उसके लिए सिर-आँखों से तैयार हूँ।'

वृद्ध स्त्री—मेरा कार्य आप ही से हो सकता है।

सेठजी—(प्रसन्न होकर) बहुत अच्छा, आज्ञा दो।

स्त्री—मैं आपके सामने भिखारिनी बनकर आई हूँ। आपको छोड़कर कोई मेरा सवाल पूरा नहीं कर सकता।

सेठजी—कहिए, कहिए।

स्त्री—आप रामरक्षा को छोड़ दीजिए।

सेठजी के मुख का रंग उतर गया। सारे हवाई किले जो अभी-अभी तयार हुए थे, गिर पड़े। वे बोले—उसने मेरी बहुत हानि की है। उसका घमण्ड तोड़ डालूँगा तब छोड़ूँगा।

स्त्री—तो क्या मेरे बुढ़ापे का, मेरे हाथ फैलाने का और कुछ अपनी बड़ाई का विचार न करोगे ? बेटा, ममता बुरी होती है। संसार में नाता टूट जाय, धन जाय, धर्म जाय, किन्तु लड़के का स्नेह हृदय से नहीं जाता। संयोग सब कुछ कर सकता है, किन्तु बेटे का स्नेह हृदय से नहीं निकल सकता। इस पर हाकिम का, राजा का यहाँ तक कि ईश्वर का भी बस नहीं है। तुम मुझ पर तरस खाओ। मेरे लड़के की जान छोड़ दो, तुम्हें बड़ा यश मिलेगा। मैं जब तक जीऊँगी तुम्हें आशीर्वाद देती रहूँगी।

सेठजी का हृदय कुछ पसीजा। पत्थर की तह में पानी रहता है। किन्तु तत्काल ही उन्हें मिसेज़ रामरक्षा के उस पत्र का ध्यान आ गया। वे बोले—तो मैं न बोलता। आपके कहने से मैं अब भी उनका अपराध क्षमा कर सकता हूँ। परन्तु उनकी बीबी साहबा ने जो पत्र मेरे पास भेजा है, उसे देखकर शरीर में आग लग जाती है। दिखाऊँ आपको ?

रामरक्षा की माँ ने पत्र लेकर पढ़ा, तो उनकी आँखों में आँसू भर आये। वे बोलीं—बेटा, उस स्त्री ने मुझे बहुत दुःख दिया है। उसने मुझे देश से निकाल दिया। उसका मिज़ाज़ और जबान उसके वश में नहीं। किन्तु इस समय उसने जो गर्व दिखाया है, उसका तुम्हें ख़याल नहीं करना चाहिए। तुम इसे भुला दो। तुम्हारा देश-देश में नाम है। यह नेकी तुम्हारे नाम को और भी फैला देगी। मैं तुमसे प्रण करती हूँ कि सारा समाचार रामरक्षा से लिखवाकर किसी अच्छे समाचारपत्र में छपवा दूँगी। रामरक्षा मेरा कहना नहीं टालेगा। तुम्हारे इस उपकार को वह कभी न भूलेगा। जिस समय ये समाचार संवाद-पत्रों में छपेंगे, उस समय हज़ारों मनुष्यों को तुम्हारे दर्शन की अभिलाषा होगी। सरकार में तुम्हारी बड़ाई होगी और मैं सच्चे हृदय से कहती हूँ कि शीघ्र ही तुम्हें कोई न कोई पदवी मिल जायगी। रामरक्षा की अँगरेज़ों से बहुत मित्रता है, वे उसकी बात कभी न टालेंगे।

सेठजी के हृदय में गुदगुदी पैदा हो गई। यदि इस व्यवहार से वह पवित्र और माननीय स्थान प्राप्त हो जाय, जिसके लिए हज़ारों खर्च किये, हज़ारों

गालियाँ दीं, हज़ारों अनुनय-विनय कीं, हज़ारों खुशामदें कीं, खानसामों की झिड़कियाँ सहीं, बँगलों के चक्कर लगाये ! अहा, इस सफलता के लिए ऐसे कई हज़ार मैं खर्च कर सकता हूँ। निस्संदेह मुझे इस काम में रामरक्षा से बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। किन्तु इन विचारों को प्रकट करने से क्या लाभ ? उन्होंने कहा, "माता, मुझे नाम-नमूद की बहुत चाह नहीं है। बड़ों ने कहा है, 'नेकी कर और दरिया में डाल।' मुझे तो आपको बात का ख़याल है। पदवी मिले तो लेने से इन्कार नहीं, न मिले तो उसकी तृष्णा भी नहीं। परन्तु यह तो बताइए कि मेरे रुपयों का क्या प्रबन्ध होगा ? आपको मालूम होगा कि मेरे दस हज़ार रुपये जाते हैं।'

रामरक्षा की माँ ने कहा—तुम्हारे रुपयों की जमानत मैं करती हूँ। यह देखो बंगाल बंक की पास-बुक है। उसमें मेरा दस हज़ार रुपया जमा है। उस रुपये से तुम रामरक्षा को कोई व्यवसाय करा दो। तुम उस दूकान के मालिक रहोगे, रामरक्षा को उसका मैनेजर बना देना। जब तक वह तुम्हारे कहे पर चले तब तक निभाना। नहीं तो दूकान तुम्हारी है। मुझे उसमें से कुछ नहीं चाहिए। मेरी खोज-खबर लेनेवाला ईश्वर है। रामरक्षा अच्छी तरह रहे, इससे अधिक मुझे और कुछ न चाहिए, यह कहकर पास-बुक सेठजी को दे दी। माँ के इस अथाह प्रेम ने सेठजी को विह्वल कर दिया। पानी उबल पड़ा और पत्थर उसके नीचे ढक गया। जीवन में ऐसे पवित्र दृश्य देखने के कम अवसर मिलते हैं। सेठजी के हृदय में परोपकार की एक लहर-सी उठी। उनकी आँखें डबडबा आईं। जिस प्रकार पानी के बहाव से कभी-कभी बाँध टूट जाता है, उसी प्रकार परोपकार की इस उमंग ने स्वार्थ और माया के बाँध को तोड़ दिया। वे पास-बुक वृद्धा स्त्री को वापस देकर बोले—माता, यह अपनी किताब लो। मुझे अब अधिक न लज्जित करो। यह देखो रामरक्षा का नाम बही से उड़ा देता हूँ। मुझे कुछ नहीं चाहिए, मैंने अपना सब कुछ पा लिया। आज तुम्हारा रामरक्षा तुमको मिल जायगा।

* * *

इस घटना के दो वर्ष उपरान्त टाऊन-हाल में फिर एक बड़ा जलसा हुआ। बैंड बज रहा था। झंडियाँ और ध्वजाएँ वायुमण्डल में लहरा रही थीं। नगर के सभी माननीय पुरुष उपस्थित थे। लैंडो, फिटन, और मोटरों से अहाता भरा हुआ था। एकाएक मुश्की घोड़ों की फिटन ने अहाते में प्रवेश किया। सेठ गिरधारीलाल बहुमूल्य वस्त्रों से सजे हुए उसमें से उतरे। उनके साथ एक फेशनेबल नवयुवक अँगरेज़ी सूट पहने मुसकुराता हुआ उतरा। ये मिस्टर रामरक्षा थे। वे अब सेठजी की एक खास दूकान के मैनेजर हैं। केवल मैनेजर ही नहीं किन्तु उन्हें मैनेजिङ्ग प्रोप्राइटर समझना चाहिए। दिल्ली-दरबार में सेठजी को रायबहादुर का पद भी मिला है। आज डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट नियमानुसार इसकी घोषणा करेंगे और नगर के माननीय पुरुषों की ओर से सेठजी को धन्यवाद देने के लिए यह बैठक हुई है। सेठजी की ओर से धन्यवाद का वक्तव्य मिस्टर रामरक्षा पेश करेंगे। जिन लोगों ने उनकी वक्तृताएँ सुनी हैं, वे बहुत उत्सुकता से इस अवसर की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

बैठक समाप्त होने पर जब सेठजी रामरक्षा के साथ अपने भवन पर पहुँचे तो मालूम हुआ कि आज वृद्धा स्त्री उनसे फिर मिलने आई है। सेठजी दौड़कर रामरक्षा की माँ के चरणों से लिपट गये। उनका हृदय इस समय नदी की भाँति उमड़ा हुआ था।

* * *

'रामरक्षा एण्ड फ्रेंड्स' चीनी बनाने का कारखाना बहुत उन्नति पर है। रामरक्षा अब भी उसी ठाट-बाट से जीवन व्यतीत कर रहे हैं। किन्तु पार्टियाँ कम देते हैं, और दिन-भर में तीन से अधिक सूट नहीं बदलते। वे अब उस पत्र को जो उनकी स्त्री ने सेठजी को लिखा था, संसार की एक बहुत अमूल्य वस्तु समझते हैं। और मिसेज रामरक्षा को भी अब सेठजी का नाम मिटाने की अधिक चाह नहीं है। क्योंकि अभी हाल में जब उनके लड़का पैदा हुआ था तो मिसेज़ रामरक्षा ने अपना सुवर्ण-कंकण धाय को उपहार दिया था और मनों मिठाई बाँटी थी।

यह सब हो गया, किन्तु वह बात जो अनहोनी थी, वह न हुई। रामरक्षा की माँ अब भी अयोध्या रहती हैं और अपनी पुत्र-वधू की सूरत नहीं देखना चाहतीं।

पछतावा

१

पण्डित दुर्गानाथ जब कालेज से निकले तो उन्हें जीवन-निर्वाह की चिन्ता उपस्थित हुई। वे दयालु और धार्मिक थे। इच्छा थी कि ऐसा काम करना चाहिए जिससे अपना जीवन भी साधारणतः सुखपूर्वक व्यतीत हो और दूसरों के साथ भलाई और सदाचरण का भी अवसर मिले। वे सोचने लगे—यदि किसी कार्यालय में क्लर्क बन जाऊँ तो अपना निर्वाह हो सकता है, किन्तु सर्वसाधारण से कुछ भी सम्बन्ध न रहेगा। वकालत में प्रवृष्ट हो जाऊँ तो दोनों बातें सम्भव हैं, किन्तु अनेकानेक यत्न करने पर भी अपने को पवित्र रखना कठिन होगा। पुलिस-विभाग में दीन-पालन और परोपकार के लिए बहुत से अवसर मिलते रहते हैं; किन्तु एक स्वतंत्र और सद्विचार-प्रिय मनुष्य के लिए वहाँ की हवा हानिप्रद है। शासन-विभाग में नियम और नीतियों की भरमार रहती है। कितना ही चाहो पर वहाँ कड़ाई और डाँट-डपट से बचे रहना असम्भव है। इसी प्रकार बहुत सोच-विचार के पश्चात् उन्होंने निश्चय किया कि किसी ज़मींदार के यहाँ 'मुख्तार आम' बन जाना चाहिए। वेतन तो अवश्य कम मिलेगा; किन्तु दीन-खेतिहरों से रात-दिन सम्बन्ध रहेगा, उनके साथ सद्व्यवहार का अवसर मिलेगा। साधारण जीवन-निर्वाह होगा और विचार दृढ होंगे।

कुँवर विशालसिंहजी एक सम्पत्तिशाली ज़मींदार थे। पं० दुर्गानाथ ने उनके पास जाकर प्रार्थना की कि मुझे भी अपनी सेवा में रखकर कृतार्थ कीजिए। कुँवर साहब ने इन्हें सिर से पैर तक देखा और कहा—पण्डितजी, आपको अपने यहाँ रखने में मुझे बड़ी प्रसन्नता होती, किन्तु आपके योग्य मेरे यहाँ कोई स्थान नहीं देख पड़ता।

दुर्गानाथ ने कहा—मेरे लिए किसी विशेष स्थान की आवश्यकता नहीं है। मैं हर एक काम कर सकता हूँ। वेतन आप जो कुछ प्रसन्नतापूर्वक देंगे, मैं स्वीकार करूँगा। मैंने तो यह संकल्प कर लिया है कि सिवा किसी रईस के और किसी की नौकरी न करूँगा। कुँवर विशालसिंह ने अभिमान से कहा—रईस की नौकरी नौकरी नहीं, राज्य है। मैं अपने चपरासियों को दो रुपया माहवार देता हूँ और वे तंज़ेब के अँगरखे पहनकर निकलते हैं। उनके दरवाज़ों पर घोड़े बँधे हुए हैं। मेरे कारिन्दे पाँच रुपये से अधिक नहीं पाते, किन्तु शादी-विवाह वकीलों के यहाँ करते हैं। न जाने उनकी कमाई में क्या बरकत होती है। बरसों तनख्वाह का हिसाब नहीं करते। कितने ऐसे हैं जो बिना तनख्वाह के कारिन्दगी या चपरासगीरी को तैयार बैठे हैं। परन्तु अपना यह नियम नहीं। समझ लीजिए, मुख्तार-आम अपने इलाक़े में एक बड़े ज़मींदार से अधिक रोब रखता है। उसका ठाठ-बाट और उसकी हुकूमत छोटे छोटे राजाओं से कम नहीं। जिसे इस नौकरी का चसका लग गया है, उसके सामने तहसीलदारी झूठी है।

पण्डित दुर्गानाथ ने कुँवर साहब की बातों का समर्थन किया, जैसा कि करना उनको सभ्यतानुसार उचित था। वे दुनियादारी में अभी कच्चे थे, बोले—मुझे अब तक किसी रईस की नौकरी का चसका नहीं लगा है। मैं तो अभी कालेज से निकला आता हूँ। और न मैं इन कारणों से नौकरी करना चाहता हूँ जिनका कि आपने वर्णन किया। किन्तु इतने कम वेतन में मेरा निर्वाह न होगा। आपके और नौकर असामियों का गला दबाते होंगे। मुझसे मरते समय तक ऐसे कार्य्य न होंगे। यदि सच्चे नौकर का सम्मान होना निश्चय है, तो मुझे विश्वास है कि बहुत शीघ्र आप मुझसे प्रसन्न हो जायँगे।

कुँवर साहब ने बड़ी दृढ़ता से कहा—हाँ, यह तो निश्चय है कि सत्यवादी मनुष्य का आदर सब कहीं होता है। किन्तु मेरे यहाँ तनख्वाह अधिक नहीं दी जाती।

ज़मींदार के इस प्रतिष्ठा-शून्य उत्तर को सुनकर पण्डितजी कुछ खिन्न

हृदय से बोले—तो फिर मजबूरी है। मेरे द्वारा इस समय कुछ कष्ट आपको पहुँचा हो तो क्षमा कीजिएगा। किन्तु मैं आपसे कह सकता हूँ कि ईमानदार आदमी आपको इतना सस्ता न मिलेगा।

कुँवर साहब ने मन में सोचा कि मेरे यहाँ सदा अदालत कचहरी लगी ही रहती है, सैकड़ों रुपये तो डिगरी और तजवीजों तथा और-और अँगरेज़ी काग़ज़ों के अनुवाद में लग जाते हैं। एक अँगरेज़ी का पूर्ण पण्डित सहज ही में मिल रहा है। सो भी अधिक तनख़्वाह नहीं देनी पड़ेगी। इसे रख लेना ही उचित है। लेकिन पण्डितजी की बात का उत्तर देना आवश्यक था, अतः कहा—महाशय, सत्यवादी मनुष्य को कितना ही कम वेतन दिया जावे वह सत्य को न छोड़ेगा और अधिक वेतन पाने से बेईमान सच्चा नहीं बन सकता है। सच्चाई का रुपये से कुछ सम्बन्ध नहीं। मैंने ईमानदार कुली देखे हैं और बेईमान बड़े बड़े धनाढ्य पुरुष। परन्तु अच्छा, आप एक सज्जन पुरुष हैं। आप मेरे यहाँ प्रसन्नतापूर्वक रहिए। मैं आपको एक इलाक़े का अधिकारी बना दूँगा और आपका काम देखकर तरक्की भी कर दूँगा।

दुर्गानाथजी ने २०) मासिक पर रहना स्वीकार कर लिया। यहाँ से कोई ढाई मील पर कई गाँवों का एक इलाका चाँदपार के नाम से विख्यात था। पण्डितजी इसी इलाके के कारिन्दे नियत हुए।

२

पण्डित दुर्गानाथ ने चाँदपार के इलाके में पहुँचकर अपने निवासस्थान को देखा, तो उन्होंने कुँवरसाहब के कथन को बिलकुल सत्य पाया। यथार्थ में रियासत की नौकरी सुख-सम्पत्ति का घर है। रहने के लिए सुन्दर बँगला है, जिसमें बहुमूल्य बिछौना बिछा हुआ था, सैकड़ों बीघे की सीर, कई नौकर-चाकर, कितने ही चपरासी, सवारी के लिए एक सुन्दर टाघन, सुख और ठाठ-बाट के सारे सामान उपस्थित। किन्तु इस प्रकार की सजावट और विलास की सामग्री देखकर उन्हें उतनी प्रसन्नता न हुई। क्योंकि इसी सजे हुए बँगले के चारों ओर किसानों के झोंपड़े थे। फूस के घरों में मिट्टी के

बर्तनों के सिवा और सामान ही क्या था ! वहाँ के लोगों में वह बँगला कोठ के नाम से विख्यात था। लड़के उसे भय की दृष्टि से देखते। उसके चबूतरे पर पैर रखने का उन्हें साहस न पड़ता। इस दीनता के बीच में इतना बड़ा ऐश्वर्ययुक्त दृश्य उनके लिए अत्यन्त हृदय-विदारक था। किसानों की यह दशा थी कि सामने आते हुए थरथर काँपते थे। चपरासी लोग उनसे ऐसा बर्ताव करते थे कि पशुओं के साथ भी वैसा नहीं होता।

पहले ही दिन कई सौ किसानों ने पण्डितजी को अनेक प्रकार के पदार्थ भेंट के रूप में उपस्थित किये, किन्तु जब वे सब लौटा दिये गये तो उन्हें बहुत ही आश्चर्य हुआ। किसान प्रसन्न हुए, किन्तु चपरासियों का रक्त उबलने लगा। नाई और कहार ख़िदमत को आये, किन्तु लौटा दिये गये। अहीरों के घरों से दूध से भरा हुआ एक मटका आया, वह भी वापस हुआ। तमोली एक ढोली पान लाया, किन्तु वह भी स्वीकार न हुआ। आसामी आपस में कहने लगे कि कोई धर्मात्मा पुरुष आये हैं। परन्तु चपरासियों को तो ये नई बातें असह्य हो गईं। उन्होंने कहा—हुज़ूर, अगर आपको ये चीज़ें पसन्द न हों तो न लें, मगर रस्म को तो न मिटावें। अगर कोई दूसरा आदमी यहाँ आवेगा तो उसे नये सिरे से यह रस्म बाँधने में कितनी दिक्कत होगी ? यह सब सुनकर पंडितजी ने केवल यही उत्तर दिया—जिसके सिर पर पड़ेगा वह भुगत लेगा। मुझे इसकी चिन्ता करने की क्या आवश्यकता ? एक चपरासी ने साहस बाँधकर कहा—इन असामियों को आप जितना गरीब समझते हैं उतने गरीब ये नहीं हैं। इनका ढंग ही ऐसा है। भेष बनाये रहते हैं। देखने में ऐसे सीधे-सादे मानों बेसींग की गाय हैं, लेकिन सच मानिए, इनमें का एक-एक आदमी हाईकोरट का वकील है।

चपरासियों के इस वाद-विवाद का प्रभाव पंडितजी पर कुछ न हुआ। उन्होंने प्रत्येक गृहस्थ से दयालुता और भाईचारे का आचरण करना आरम्भ किया। सबेरे से आठ बजे तक तो गरीबों को बिना दाम ओषधियाँ देते, फिर हिसाब-किताब का काम देखते। उनके सदाचरण ने असामियों को मोह

लिया। मालगुजारी का रुपया जिसके लिए प्रतिवर्ष कुरकी तथा नीलाम की आवश्यकता होती थी, इस वर्ष एक इशारे पर वसूल हो गया। किसानों ने अपने भाग सराहे और वे मनाने लगे कि हमारे सरकार की दिनोंदिन बढ़ती हो।

३

कुँवर विशालसिंह अपनी प्रजा के पालन-पोषण पर बहुत ध्यान रखते थे। वे बीज के लिए अनाज देते और मजूरी और बैलों के लिए रुपये। फ़सल कटने पर एक का डेढ़ वसूल कर लेते! चाँदपार के कितने ही असामी इनके ऋणी थे। चैत का महीना था। फ़सल कट-कटकर खलियानों में आ रही थी। खलियान में से कुछ नाज घर में आने लगा था। इसी अवसर पर कुँवरसाहब ने चाँदपारवालों को बुलाया और कहा—हमारा नाज और रुपया बेबाक़ कर दो। यह चैत का महीना है। जब तक कड़ाई न की जाय, तुम लोग डकार नहीं लेते। इस तरह काम नहीं चलेगा। बूढ़े मलूका ने कहा—सरकार, भला आसामी कभी अपने मालिक से बेबाक़ हो सकता है? कुछ अभी ले लिया जाय, कुछ फिर दे देंगे। हमारी गर्दन तो सरकार की मुट्ठी में है।

कुँवरसाहब—आज कौड़ी कौड़ी चुकाकर यहाँ से उठने पाओगे। तुम लोग हमेशा इसी तरह हीला-हवाला किया करते हो।

मलूका (विनय के साथ)—हमारा पेट है, सरकार की रोटियाँ हैं, हमको और क्या चाहिए? जो कुछ उपज है वह सब सरकार ही की है।

कुँवर साहब से मलूका की यह वाचालता सही न गई। उन्हें इस पर क्रोध आ गया; राजा-रईस ठहरे। उन्होंने बहुत कुछ खरी-खोटी सुनाई और कहा—कोई है? जरा इस बुड्ढे का कान तो गरम करो, यह बहुत बढ़ बढ़कर बातें करता है। उन्होंने तो कदाचित् धमकाने की इच्छा से कहा, किन्तु चपरासी क़ादिरखाँ ने लपककर बूढ़े की गर्दन पकड़ी और ऐसा धक्का दिया कि बेचारा ज़मीन पर जा गिरा। मलूका के दो जवान बेटे वहाँ चुपचाप खड़े थे। बाप की ऐसी दशा देखकर उनका रक्त गर्म हो उठा। वे दोनों झपटे और कादिरखाँ पर टूट पड़े। धमाधम शब्द सुनाई पड़ने लगा। खाँ साहब

का पानी उतर गया, साफ़ा अलग जा गिरा। अचकन के टुकड़े टुकड़े हो गये। किन्तु ज़बान चलती रही।

मलूका ने देखा, बात बिगड़ गई। वह उठा और कादिर ख़ाँ को छुड़ाकर अपने लड़कों को गालियाँ देने लगा। जब लड़कों ने उसी को डाँटा, तब दौड़कर कुँवर साहब के चरणों पर गिर पड़ा। पर बात यथार्थ में बिगड़ गई थी। बूढ़े के इस विनीत भाव का कुछ प्रभाव न हुआ। कुँवर साहब की आँखों से मानो आग के अंगारे निकल रहे थे। वे बोले—बेईमान आँखों के सामने से दूर हो जा। नहीं तो तेरा खून पी जाऊँगा।

बूढ़े के शरीर में रक्त तो अब वैसा न रहा था, किन्तु कुछ गर्मी अवश्य थी। समझता था कि ये कुछ न्याय करेंगे, परन्तु यह फटकार सुनकर बोला—सरकार, बुढ़ापे में आप के दरवाज़े पर पानी उतर गया और तिसपर सरकार हमी को डाँटते हैं। कुँवर साहब ने कहा—तुम्हारी इज्ज़त अभी क्या उतरी है, अब उतरेगी।

दोनों लड़के सरोष बोले—सरकार अपना रुपया लेंगे कि किसी की इज्ज़त लेंगे?

कुँवर साहब (ऐंठकर)—रुपया पीछे लेंगे, पहले देखेंगे कि तुम्हारी इज्ज़त कितनी है!

४

चाँदपार के किसान अपने गाँव पर पहुँचकर पण्डित दुर्गानाथ से अपनी रामकहानी कह ही रहे थे कि कुँवरसाहब का दूत पहुँचा और खबर दी कि सरकार ने आपको अभी अभी बुलाया है।

दुर्गानाथ ने असामियों को परितोष दिया और आप घोड़े पर सवार होकर दरबार में हाजिर हुए।

कुँवरसाहब की आँखें लाल थीं। मुख की आकृति भयंकर हो रही थी। कई मुख्तार और चपरासी बैठे हुए आग पर तेल डाल रहे थे। पण्डितजी को देखते ही कुँवरसाहब बोले—चाँदपारवालों की हरकत आपने देखी?

पण्डितजी ने नम्र भाव से कहा—जी हाँ, सुनकर बहुत शोक हुआ। ये तो ऐसे सरकस न थे।

कुँवरसाहब—यह सब आप ही के आगमन का फल है। आप अभी स्कूल के लड़के हैं। आप क्या जानें कि संसार में कैसे रहना होता है। यदि आपका बर्ताव आसामियों के साथ ऐसा ही रहा तो फिर मैं ज़मींदारी कर चुका। यह सब आपकी करनी है। मैंने इसी दरवाजे पर आसामियों को बाँध-बाँधकर उलटे लटका दिया है और किसी ने चूँ तक न का। आज उनका यह साहस कि मेरे ही आदमी पर हाथ चलायें!

दुर्गानाथ (कुछ दबते हुए)—महाशय, इसमें मेरा क्या अपराध? मैंने तो जब से सुना है तभी से स्वयं सोच में पड़ा हूँ।

कुँवरसाहब—आपका अपराध नहीं तो किसका है! आप ही ने तो इनको सर चढ़ाया। बेगार बंद कर दी, आप ही उनके साथ भाईचारे का बर्ताव करते हैं, उनके साथ हँसी-मज़ाक करते हैं। ये छोटे आदमी इस बर्ताव की कदर क्या जानें। किताबी बातें स्कूलों ही के लिए हैं। दुनिया के व्यवहार का कानून दूसरा है। अच्छा, जो हुआ सो हुआ। अब मैं चाहता हूँ कि इन बदमाशों को इस सरकशी का मज़ा चखाया जाय। आसामियों को आपने मालगुज़ारी की रसीदें तो नहीं दी हैं?

दुर्गानाथ (कुछ डरते हुए)—जी नहीं, रसीदें तैयार हैं, केवल आपके हस्ताक्षरों की देर है।

कुँवरसाहब (कुछ संतुष्ट होकर)—यह बहुत अच्छा हुआ। शकुन अच्छे हैं। अब आप इन रसीदों को चिरागअली के सिपुर्द कीजिए। इन लोगों पर बकाया लगान की नालिश की जायगी, फ़सल नीलाम करा लूँगा। जब भूखे मरेंगे तब सूझेगी। जो रुपया अब तक वसूल हो चुका है, वह बीज और ऋण के खाते में चढ़ा लीजिए। आपको केवल यह गवाही देनी होगी कि यह रुपया मालगुज़ारी के मद में नहीं क़र्ज़ के मद में वसूल हुआ है। बस।

दुर्गानाथ चिन्तित हो गये। सोचने लगे कि क्या यहाँ भी उसी आपत्ति

का सामना करना पड़ेगा जिससे बचने के लिए इतने सोच-विचार के बाद, इस शान्ति-कुटीर को ग्रहण किया था ? क्या जान-बूझकर इन गरीबों की गर्दन पर छुरी फेरूँ, इसलिए कि मेरी नौकरी बनी रहे ? नहीं, यह मुझसे न होगा। बोले—क्या मेरी शहादत बिना काम न चलेगा ?

कुँवर साहब (क्रोध से)—क्या इतना कहने में भी आपको कोई उज्र है ?

दुर्गानाथ (द्विविधा में पड़े हुए)—जी, यों तो मैंने आपका नमक खाया है। आपको प्रत्येक आज्ञा का पालन करना मुझे उचित है, किन्तु न्यायालय में मैंने गवाही नहीं दी है। सम्भव है कि यह कार्य मुझसे न हो सके। अतः मुझे तो क्षमा ही कर दिया जाय।

कुँवर साहब (शासन के ढंग से)—यह काम आपको करना पड़ेगा, इसमें 'हाँ-नहीं' की कोई आवश्यकता नहीं। आग आपने लगाई है, बुझावेगा कौन ?

दुर्गानाथ (दृढ़ता के साथ)—मैं झूठ कदापि नहीं बोल सकता, और न इस प्रकार शहादत दे सकता हूँ।

कुँवर साहब (कोमल शब्दों में)—कृपानिधान, यह झूठ नहीं है। मैंने झूठ का व्यापार नहीं किया है। मैं यह नहीं कहता कि आप रुपए का वसूल होना अस्वीकार कर दीजिए। जब आसामी मेरे ऋणी हैं, तो मुझे अधिकार है कि चाहे रुपया ऋण के मद में वसूल करूँ या मालगुजारी के मद में। यदि इतनी-सी बात को आप झूठ समझते हैं तो आपकी ज़बरदस्ती है। अभी आपने संसार देखा नहीं। ऐसी सच्चाई के लिए संसार में स्थान नहीं। आप मेरे यहाँ नौकरी कर रहे हैं। इस सेवक-धर्म पर विचार कीजिए। आप शिक्षित और होनहार पुरुष हैं। अभी आपको संसार में बहुत दिन तक रहना है और बहुत काम करना है। अभी से आप यह धर्म और सत्यता धारण करेंगे तो अपने जीवन में आपको आपत्ति और निराशा के सिवा और कुछ प्राप्त न होगा। सत्यप्रियता अवश्य उत्तम वस्तु है, किन्तु उसकी भी सीमा है। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्।' अब अधिक सोच-विचार की आवश्यकता नहीं। यह अवसर ऐसा ही है।

कुँवर साहब पुराने खुर्राट थे। इस फेंकनैत से युवक खिलाड़ी हार गया।

५

इस घटना के तीसरे दिन चाँदपार के आसामियों पर बकाया लगान की नालिश हुई। समन आये। घर-घर उदासी छा गई। समन क्या थे, यम के दूत थे। देवी-देवताओं की मिन्नतें होने लगीं। स्त्रियाँ अपने घरवालों को कोसने लगीं, और पुरुष अपने भाग्य को। नियत तारीख़ के दिन गाँव के गँवार कन्धे पर लोटा-डोर रखे और अँगोछे में चबेना बाँधे कचहरी को चले। सैकड़ों स्त्रियाँ और बालक रोते हुए उनके पीछे-पीछे जाते थे। मानो अब वे फिर उनसे न मिलेंगे।

पंडित दुर्गानाथ के लिए ये तीन दिन कठिन परीक्षा के थे। एक ओर कुँवर साहब की प्रभावशालिनी बातें, दूसरी ओर किसानों की हाय-हाय। परन्तु विचार-सागर में तीन दिन निमग्न रहने के पश्चात् उन्हें धरती का सहारा मिल गया। उनकी आत्मा ने कहा—यह पहली परीक्षा है। यदि इसमें अनुत्तीर्ण रहे तो फिर आत्मिक दुर्बलता ही हाथ रह जायगी। निदान निश्चय हो गया कि मैं अपने लाभ के लिए इतने गरीबों को हानि न पहुँचाऊँगा।

दस बजे दिन का समय था। न्यायालय के सामने मेला-सा लगा हुआ था। जहाँ-तहाँ श्यामवस्त्राच्छादित देवताओं की पूजा हो रही थी। चाँदपार के किसान झुण्ड के झुण्ड एक पेड़ के नीचे आकर बैठे। उनसे कुछ दूर पर कुँवर साहब के मुख्तार-आम सिपाहियों और गवाहों की भीड़ थी। ये लोग अत्यन्त विनोद में थे। जिस प्रकार मछलियाँ पानी में पहुँचकर कलोलें करती हैं, उसी भाँति ये लोग भी आनन्द में चूर थे। कोई पान खा रहा था। कोई हलवाई की दूकान से पूरियों की पत्तल लिये चला आता था। उधर बेचारे किसान पेड़ के नीचे चुपचाप उदास बैठे थे कि आज न जाने क्या होगा, कौन आफ़त आवेगी! भगवान का भरोसा है। मुकदमे की पेशी हुई। कुँवर साहब की ओर के गवाह गवाही देने लगे कि असामी बड़े सरकश हैं। जब

लगान माँगा जाता है तो लड़ाई-झगड़े पर तैयार हो जाते हैं। अबकी इन्होंने एक कौड़ी भी नहीं दी।

कादिर खाँ ने रोकर अपने सिर की चोट दिखाई। सबके पीछे पंडित दुर्गानाथ की पुकार हुई। उन्हीं के बयान पर निपटारा होना था। वकील साहब ने उन्हें खूब तोते की भाँति पढ़ा रखा था, किन्तु उनके मुख से पहला वाक्य निकला ही था कि मजिस्ट्रेट ने उनकी ओर तीव्र दृष्टि से देखा। वकील साहब बगलें झाँकने लगे। मुख्तार-आम ने उनकी ओर घूरकर देखा। अहलमद पेशकार आदि सबके सब उनकी ओर आश्चर्य की दृष्टि से देखने लगे।

न्यायाधीश ने तीव्र स्वर में कहा—तुम जानते हो कि मजिस्ट्रेट के सामने खड़े हो ?

दुर्गानाथ (दृढ़तापूर्वक)—जी हाँ, भली भाँति जानता हूँ।

न्याया०—तुम्हारे ऊपर असत्य भाषण का अभियोग लगाया जा सकता है।

दुर्गानाथ—अवश्य यदि मेरा कथन झूठा हो।

वकील ने कहा—जान पड़ता है किसानों के दूध, घी और भेंट आदि ने यह काया-पलट कर दी है और न्यायाधीश की ओर सार्थक दृष्टि से देखा।

दुर्गानाथ—आपको इन वस्तुओं का अधिक तजरुबा होगा। मुझे तो अपनी रूखी रोटियाँ ही अधिक प्यारी हैं।

न्यायाधीश—तो इन आसामियों ने सब रुपया बेबाक कर दिया है ?

दुर्गानाथ—जी हाँ, इनके जिम्मे लगान की एक कौड़ी भी बाकी नहीं है।

न्यायाधीश—रसीदें क्यों नहीं दीं ?

दुर्गानाथ—मेरे मालिक की आज्ञा।

६

मजिस्ट्रेट ने नालिशें डिसमिस कर दीं। कुँवरसाहब को ज्यों ही इस पराजय की खबर मिली, उनके कोप की मात्रा सीमा से बाहर हो गई। उन्होंने पंडित दुर्गानाथ को सैकड़ों कुवाक्य कहे—नमकहराम, विश्वासघाती, दुष्ट। मैंने उसका कितना आदर किया, किन्तु कुत्ते की पूँछ कहीं सीधी हो सकती

है ! अन्त में विश्वासघात कर ही गया ! यह अच्छा हुआ कि पं० दुर्गानाथ मजिस्ट्रेट का फैसला सुनते ही मुख्तार आम को कुंजियाँ और कागज़पत्र सुपुर्द कर चलते हुए। नहीं तो उन्हें इस कार्य के फल में कुछ दिन हल्दी और गुड़ पीने की आवश्यकता पड़ती।

कुँवरसाहब का लेन-देन विशेष अधिक था। चाँदपार बहुत बड़ा इलाक़ा था। वहाँ के आसामियों पर कई सौ रुपये बाक़ी थे। उन्हें विश्वास हो गया कि अब रुपया डूब जायगा। वसूल होने की कोई आशा नहीं। इस पंडित ने आसामियों को बिलकुल बिगाड़ दिया। अब उन्हें मेरा क्या डर? अपने कारिन्दों और मंत्रियों से सम्मति ली। उन्होंने भी यही कहा—अब वसूल होने की कोई सूरत नहीं। कागज़ात न्यायालय में पेश किये जायँ तो इनका टक्स लग जायगा। किन्तु रुपया वसूल होना कठिन है। उज़रदारियाँ होंगी। कहीं हिसाब में कोई भूल निकल आई तो रही-सही साख भी जाती रहेगी और दूसरे इलाकों का रुपया भी मारा जायगा।

दूसरे दिन कुँवरसाहब पूजा-पाठ से निश्चिन्त हो अपने चौपाल में बैठे, तो क्या देखते हैं कि चाँदपार के आसामी झुंड के झुण्ड चले आ रहे हैं। उन्हें यह देखकर भय हुआ कि कहीं ये सब कुछ उपद्रव तो न करें, किन्तु किसी के हाथ में एक छड़ी तक न थी। मलूका आगे आगे आता था। उसने दूर ही से झुककर वन्दना की। ठाकुरसाहब को ऐसा आश्चर्य हुआ, मानो वे कोई स्वप्न देख रहे हों।

७

मलूका ने सामने आकर विनयपूर्वक कहा—सरकार, हम लोगों से जो कुछ भूल-चूक हुई उसे क्षमा किया जाय। हम लोग सब हजूर के चाकर हैं; सरकार ने हमको पाला-पोसा है। अब भी हमारे ऊपर यही निगाह रहे।

कुँवर साहब का उत्साह बढ़ा। समझे कि पंडित के चले जाने से इन सबों के होश ठिकाने हुए हैं। अब किसका सहारा लेंगे। उसी खुर्राट ने इन

सबों को बहका दिया था। कड़ककर बोले—वे तुम्हारे सहायक पंडित कहाँ गये ? वे आ जाते तो ज़रा उनकी ख़बर ली जाती।

यह सुनकर मलूका की आँखों में आँसू भर आये। वह बोला—सरकार, उनको कुछ न कहें। वे आदमी नहीं, देवता थे। जवानी की सौगन्ध है, जो उन्होंने आपकी कोई निन्दा की हो। वे बेचारे तो हम लोगों को बार-बार समझाते थे कि देखो, मालिक से बिगाड़ करना अच्छी बात नहीं। हमसे कभी एक लोटा पानी के रवादार नहीं हुए। चलते-चलते हमसे कह गये कि मालिक का जो कुछ तुम्हारे जिम्मे निकले, चुका देना। आप हमारे मालिक हैं। हमने आपका बहुत खाया-पिया है। अब हमारी यही विनती सरकार से है कि हमारा हिसाब-किताब देखकर जो कुछ हमारे ऊपर निकले, बताया जाय। हम एक-एक कौड़ी चुका देंगे, तब पानी पीयेंगे।

कुँवर साहब सन्न हो गये। इन्हीं रुपयों के लिए कई बार खेत कटवाने पड़े थे। कितनी बार घरों में आग लगवाई। अनेक बार मार-पीट की। कैसे-कैसे दंड दिये। और आज ये सब आप से आप सारा हिसाब-किताब साफ़ करने आये हैं। यह क्या जादू है !

मुख़्तारआम साहब ने काग़ज़ात खोले और असामियों ने अपनी-अपनी पोटलियाँ। जिसके जिम्मे जितना निकला, बे-कान-पूछ हिलाये उतना द्रव्य सामने रख दिया। देखते-देखते सामने रुपयों का ढेर लग गया। छह सौ रुपया बात की बात में वसूल हो गया। किसी के जिम्मे कुछ बाकी न रहा। यह सत्यता और न्याय की विजय थी। कठोरता और निर्दयता से जो काम कभी न हुआ वह धर्म और न्याय ने पूरा कर दिखाया।

जब से ये लोग मुकद्दमा जीतकर आये तभी से उनको रुपया चुकाने की धुन सवार थी। पंडितजी को वे यथार्थ में देवता समझते थे। रुपया चुका देने के लिए उनकी विशेष आज्ञा थी। किसी ने बैल, किसी ने गहने बन्धक रखे। यह सब कुछ सहन किया, परन्तु पंडितजी की बात न टाली। कुँवर साहब के मन में पंडितजी के प्रति जो बुरे विचार थे वे सब मिट गये।

उन्होंने सदा से कठोरता से काम लेना सीखा था। उन्हीं नियमों पर वे चलते थे। न्याय तथा सत्यता पर उनका विश्वास न था। किन्तु आज उन्हें प्रत्यक्ष देख पड़ा कि सत्यता और कोमलता में बहुत बड़ी शक्ति है।

ये असामी मेरे हाथ से निकल गये थे। मैं इनका क्या बिगाड़ सकता था? अवश्य वह पंडित सच्चा और धर्मात्मा पुरुष था। उसमें दूरदर्शिता न हो, काल-ज्ञान न हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह निष्पृह और सच्चा पुरुष था।

८

कैसी ही अच्छी वस्तु क्यों न हो, जब तक हमको उसकी आवश्यकता नहीं होती तब तक हमारी दृष्टि में उसका गौरव नहीं होता। हरी दूब भी किसी समय अशर्फियों के मोल बिक जाती है। कुँवर साहब का काम एक निष्पृह मनुष्य के बिना रुक नहीं सकता था। अतएव पंडितजी के इस सर्वोत्तम कार्य्य की प्रशंसा किसी कवि की कविता से अधिक न हुई। चाँदपार के आसामियों ने तो अपने मालिक को कभी किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाया, किन्तु अन्य इलाक़ोंवाले आसामी उसी पुराने ढंग से चलते थे। इन इलाक़ों में रगड़-झगड़ सदैव मची रहती थी। अदालत, मार-पीट, डाँट-डपट सदा लगी रहती थी। किन्तु ये सब तो जमींदारी के शृङ्गार हैं। बिना इन सब बातों के ज़मींदारी कैसी? क्या दिन-भर बैठे-बैठे वे मक्खियाँ मारें?

कुँवर साहब इसी प्रकार पुराने ढग से अपना प्रबन्ध सँभालते जाते थे। कई वर्ष व्यतीत हो गये। कुँवर साहब का कारोबार दिनों दिन चमकता ही गया यद्यपि उन्होंने पाँच लड़कियों के विवाह बड़ी धूमधाम के साथ किये, परन्तु तिल पर भी उनकी बढ़ती में किसी प्रकार की कमी न हुई। हाँ, शारीरिक शक्तियाँ अवश्य कुछ-कुछ ढीली पड़ती गईं। बड़ी भारी चिन्ता यही थी कि इस बड़ी सम्पत्ति और ऐश्वर्य का भोगनेवाला कोई उत्पन्न न हुआ। भानजे, भतीजे, और नवासे इस रियासत पर दाँत लगाये हुए थे।

कुँवर साहब का मन अब इन सांसारिक झगड़ों से फिरता जाता था।

आख़िर यह रोना-धोना किसके लिए ? अब उनके जीवन-नियम में एक परिवर्तन हुआ। द्वार पर कभी-कभी साधु-सन्त धूनी रमाये हुए देख पड़ते। स्वयं भगवद्गीता और विष्णुपुराण पढ़ते। पारलौकिक चिन्ता अब नित्य रहने लगी। परमात्मा की कृपा और साधु-सन्तों के आशीर्वाद से बुढ़ापे में उनको एक लड़का पैदा हुआ। जीवन की आशाएँ सफल हुईं, पर दुर्भाग्यवश पुत्र के जन्म ही से कुँवर साहब शारीरिक व्याधियों से ग्रस्त रहने लगे। सदा वैद्यों और डाक्टरों का ताँता लगा रहता था। लेकिन दवाओं का उलटा प्रभाव पड़ता। ज्यों त्यों करके उन्होंने ढाई वर्ष बिताये। अन्त में उनकी शक्तियों ने जवाब दे दिया। उन्हें मालूम हो गया कि अब संसार से नाता टूट जायगा। अब चिन्ता ने और घर दबाया—यह सारा माल-असबाब, इतनी बड़ी सम्पत्ति किस पर छोड़ जाऊँ ? मन की इच्छाएँ मन ही में रह गईं। लड़के का विवाह भी न देख सका। उसकी तोतली बातें सुनने का भी सौभाग्य न हुआ। हाय, अब इस कलेजे के टुकड़े को किसे सौंपूँ जो इसे अपना पुत्र समझे। लड़के की माँ स्त्री-जाति, न कुछ जाने न समझे। उससे कारबार सँभलना कठिन है। मुख़्तारआम, गुमाश्ते, कारिन्दे कितने हैं, परन्तु सबके सब स्वार्थी विश्वासघाती। एक भी ऐसा पुरुष नहीं जिस पर मेरा विश्वास जमे। कोर्ट ऑफ़ वार्ड्स के सुपुर्द करूँ तो वहाँ भी ये ही सब आपत्तियाँ। कोई इधर दबायेगा कोई उधर। अनाथ बालक को कौन पूछेगा ? हाय, मैंने आदमी नहीं पहिचाना ! मुझे हीरा मिल गया था, मैंने उसे ठीकरा समझा ! कैसा सच्चा, कैसा वीर, दृढ़प्रतिज्ञ पुरुष था। यदि वह कहीं मिल जावे तो इस अनाथ बालक के दिन फिर जायँ। उसके हृदय में करुणा है, दया है। वह अनाथ बालक पर तरस खायगा। हा ! क्या मुझे उसके दर्शन मिलेंगे ? मैं उस देवता के चरण धोकर माथे पर चढ़ाता। आँसुओं से उसके चरण धोता। वही यदि हाथ लगाये तो यह मेरी डूबती नाव पार लगे।

९

ठाकुर साहब की दशा दिन पर दिन बिगड़ती गई। अब अन्तकाल आ

पहुँचा। उन्हें पंडित दुर्गानाथ की रट लगी हुई थी। बच्चे का मुँह देखते और कलेजे से एक आह निकल जाती। बार-बार पछताते और हाथ मलते। हाय! उस देवता को कहाँ पाऊँ? जो कोई उसके दर्शन करा दे, आधी जायदाद उसके न्योछावर कर दूँ।— प्यारे पंडित! मेरे अपराध क्षमा करो। मैं अन्धा था, अज्ञान था। अब मेरी बाँह पकड़ो। मुझे डूबने से बचाओ। इस अनाथ बालक पर तरस खाओ।

हितार्थी और सम्बन्धियों का समूह सामने खड़ा था। कुँवर साहब ने उनकी ओर अधखुली आँखों से देखा। सच्चा हितैषी कहीं देख न पड़ा। सबके चेहरे पर स्वार्थ की झलक थी। निराशा से आँखें मूँद लीं। उनकी स्त्री फूट फूटकर रो रही थी। निदान उसे लज्जा त्यागनी पड़ी। वह रोती हुई पास जाकर बोली—प्राणनाथ, मुझे और इस असहाय बालक को किस पर छोड़े जाते हो?

कुँवरसाहब ने धीरे से कहा—पंडित दुर्गानाथ पर। जल्द आवेंगे। उनसे कह देना कि मैंने सब कुछ उनके भेंट कर दिया। यह अन्तिम वसीयत है।